X
33

UNIVERSAL
BOOK DEPOT
Hazratganj, Lucknow

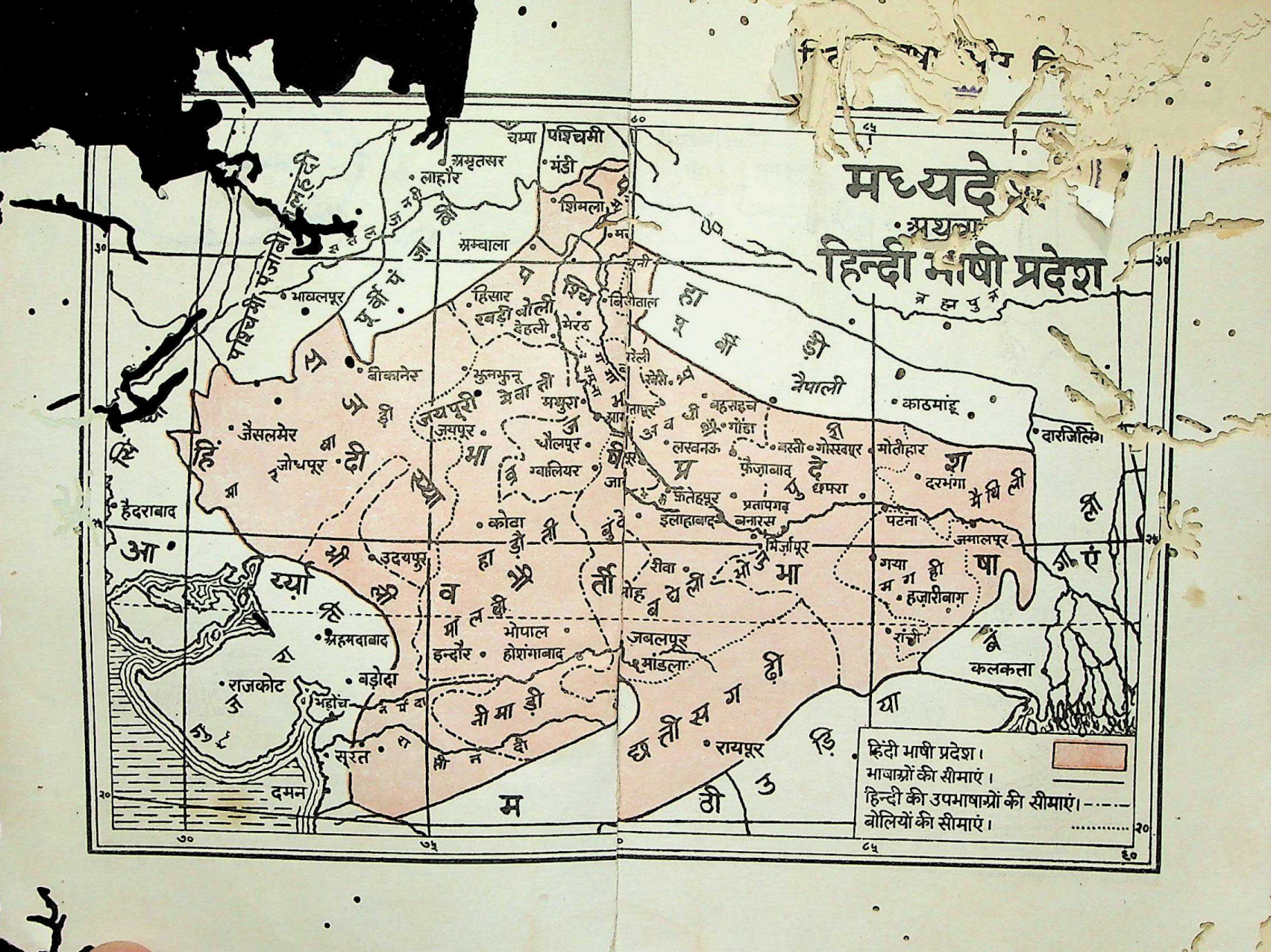

मध्यदे
अथवा
हिन्दी भाषी प्रदेश
हिंदी भाषी प्रदेश।
भाषाओं की सीमाएं।
हिन्दी की उपभाषाओं की सीमाएं।
बोलियों की सीमाएं।
पश्चिमी
चम्पा
मंडी
अमृतसर
लाहौर
शिमला
अम्बाला
भावलपूर
हिसार
खड़ी बोली
देहली
मेरठ
बिसीताल
बीकानेर
झुनझुनू
जयपूरी
मथुरा
जयपूर
जैसलमेर
जोधपूर
धौलपूर
ग्वालियर
बहराइच
गोंडा
लखनऊ
बस्ती
गोरखपूर
मोतीहार
काठमांडू
दारजिलिंग
दरभंगा
मैथिली
फ़ैज़ाबाद
छपरा
फ़तेहपूर
प्रतापगढ़
इलाहाबाद
बनारस
पटना
जमालपूर
हैदराबाद
कोटा
उदयपुर
मिर्ज़ापूर
गया
हज़ारीबाग़
रांची
कलकत्ता
रीवा
जबलपूर
मांडला
भोपाल
इन्दौर
होशंगाबाद
अहमदाबाद
बड़ोदा
राजकोट
भड़ोंच
सूरत
दमन
रायपूर

[illegible] और [illegible]

[illegible] संग्रहालय पुस्तकालय
विभाग X.I.
पुस्तक क्रम संख्या 22
State Museum Library, Lucknow

धीरेंद्र वर्मा
एम्० ए० (इलाहाबाद), डी० लिट्० (पेरिस)
यूनीवर्सिटी प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष हिंदी
विभाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

वक्तव्य

मेरा लिखा 'हिंदी भाषा का इतिहास' शीर्षक ग्रंथ हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उपर्युक्त ग्रंथ की भूमिका थी। जिसको विद्यार्थियों तथा हिन्दी-प्रेमियों के हित की दृष्टि से एकेडेमी ने स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित करना उचित समझा था।

बाद के संस्करणों में अनेक परिवर्तनों तथा संशोधनों के अतिरिक्त प्रारंभ में हिंदी भाषा-संबंधी प्रदेश का एक मानचित्र तथा देवनागरी लिपि और अंक के विकास संबंधी दो चित्र बढ़ा दिए गए हैं। विश्वास है इससे विषय को सुचारु रूप से समझने में विशेष सहायता मिल सकेगी। लिपि तथा अंक संबंधी चित्र महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी की सुप्रसिद्ध कृति 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' से लिए गए हैं। इनके उद्धृत करने की अनुमति देने के लिए मैं ओझा जी का आभारी हूँ।

हर्ष का विषय है कि पुस्तक के दसवें संस्करण के प्रकाशित होने का अवसर उपस्थित हुआ है।

हिंदी विभाग
विश्वविद्यालय, प्रयाग

धीरेंद्र वर्मा

विषय-सूची

वक्तव्य ३

१—संसार की भाषाएँ और हिंदी ९–१७

क—संसार की भाषाओं का वर्गीकरण ९

ख—भारत-यूरोपीय कुल १३

ग—आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल १५

२—आर्यावर्त्ती अर्थात् भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास १८–३०

क—आर्यों का मूल स्थान तथा भारत-प्रवेश १८

ख—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल २२

ग—मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-काल २४

घ—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल २७

३—आधुनिक आर्यावर्त्ती अथवा भारतीय आर्यभाषाएँ ३१–४०

क—वर्गीकरण ३१

ख—संक्षिप्त वर्णन ३४

४—हिंदी तथा उसकी उपभाषाएँ और बोलियाँ ४१–५४

क—हिंदी की उपभाषाएँ और साहित्यिक रूप ४१

ख—हिंदी की ग्रामीण बोलियाँ ४७

५—हिंदी शब्द-समूह ५५–६३

क—भारतीय आर्यभाषाओं का शब्दसमूह ५६

ख—भारतीय अनार्यभाषाओं से आए हुए शब्द ५७

ग—विदेशी भाषाओं के शब्द ५७

६—हिंदी भाषा का विकास ६४–७४
क—प्राचीन काल (११००—१५०० ई०) ६४
ख—मध्यकाल (१५००—१८०० ई०) ७०
ग—आधुनिक काल (१८०० ई०—) ७२
७—देवनागरी लिपि और अंक ७५–८०

मानचित्र और चित्र

१—हिंदी भाषा का क्षेत्र मुखपृष्ठ के सामने
२-३—लिपि तथा अंक संबंधी चित्र ७–८

संक्षेप-निर्देश

इ० ब्रि०	इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका
ओझा, भा० प्रा० लि०	ओझा—गौरीशंकर हीराचंद, भारतीय प्राचीन लिपिमाला (१९१८)
चै०, बे० लै०	चैटर्जी—सुनीति कुमार, बेंगाली लैंग्वेज (१९२६)
ना० प्र० प०	नागरी-प्रचारिणी पत्रिका
लि० स०	लिंग्विस्टिक सर्वे आव् इंडिया
हा०, ई० हिं० ग्रै०	हार्नर्ली, ईस्टर्न हिंदी ग्रैमर (१८८०)

हिन्दी अंकों का विकास

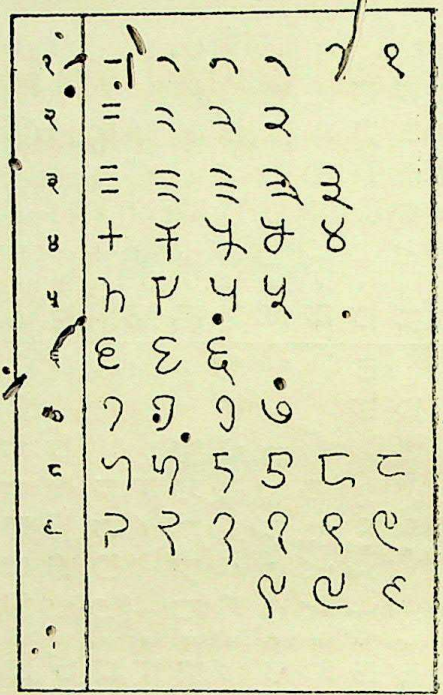

१—संसार की भाषाएँ और हिंदी

क—संसार की भाषाओं का वर्गीकरण[1]

वंशक्रम के अनुसार भाषातत्वविज्ञ संसार की भाषाओं को कुलों, उपकुलों, शाखाओं, उपशाखाओं तथा समुदायों में विभक्त करते हैं।[2] हिंदी भाषा का संसार में कहां स्थान है, यह समझने के लिए इन विभागों का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है। उन समस्त भाषाओं की गणना एक कुल में की जाती है, जिनके संबंध में यह प्रमाणित हो चुका है कि ये सब किसी एक मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। नए प्रमाण मिलने पर इस वर्गीकरण में परिवर्तन संभव है। अब तक खोज के आधार पर संसार की भाषाएँ निम्नलिखित मुख्य कुलों में विभक्त की गई हैं:—

१—भारत-यूरोपीय कुल—हमारे दृष्टिकोण से इसका स्थान सब से प्रथम है। कुछ विद्वान इस कुल को आर्य, भारत-जर्मनिक अथवा जफ़ेटिक[3] नामों से भी पुकारते हैं। इस कुल की भाषाएँ उत्तर भारत, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान तथा प्रायः संपूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, पाली, पुरानी ईरानी, ग्रीक, लैटिन इत्यादि प्राचीन भाषाएँ इसी कुल की थीं। आजकल इस कुल में

---

[1] इ० ब्रि० (११ वां संस्करण), 'फिलॉलोजी' शीर्षक लेख, भाग २१, पृ० ४२६ ई०।

[2] भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, आदि में मनुष्यमात्र की क्या कोई एक मूलभाषा थी, इत्यादि प्रश्न भाषा-विज्ञान के विषय से संबंध रखते हैं। अतः प्रस्तुत विषय के क्षेत्र से ये पूर्ण-रूप से बाहर हैं।

[3] जफ़ेटिक नाम बाइबिल के अनुसार मनुष्य जाति के वर्गीकरण के आधार पर दिया गया था। जफ़ेटिक के अतिरिक्त मनुष्य जाति के दो अन्य विभाग से-

अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन, नई ईरानी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि भाषाएँ हैं।

२—सेमिटिक कुल—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध सभ्यताओं के केंद्रों में—जैसे फ़ोनेशिया, आरमीय तथा असीरिया में—लोगों की भाषाएँ इसी कुल की थीं। इन प्राचीन भाषाओं के नमूने अब केवल शिलालेखों इत्यादि में मिलते

मिटिक तथा हेमिटिक के नाम से बाइबिल में किये गए हैं। इनमें से भी प्रत्येक के नाम पर एक-एक भाषाकुल का नाम पड़ा है। मनुष्य जाति के इस वर्गीकरण के शास्त्रीय होने में संदेह होने पर जफ़ेटिक नाम छोड़ दिया गया, यद्यपि शेष दो नाम अब भी प्रचलित हैं। *भारत जर्मनिक* से तात्पर्य उन भाषाओं से लिया जाता था जो पूर्व में भारत से लेकर पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाती हैं। बाद को जब यह मालूम हुआ कि जर्मनी के और भी पश्चिम में आयलैंड की केल्टिक भाषा भी इसी कुल की है, तब यह नाम भी अनुपयुक्त समझा गया। आरंभ में भाषा-शास्त्र में जर्मन विद्वानों ने अधिक कार्य किया था और यह नाम भी उन्हीं का दिया हुआ था। जर्मनी में अब भी इस कुल का वही नाम प्रचलित है। *आर्य-कुल* नाम सरल तथा उपयुक्त था, किंतु एक तो इससे यह भ्रम होता था कि आर्य-कुल की भाषाएं बोलने वाले सब लोग आर्य-जाति के होंगे जो सत्य नहीं है, इसके अतिरिक्त ईरानी तथा भारतीय उपशाखाओं का संयुक्त नाम आर्य-उपकुल पड़ चुका था, अतः यह सरल नाम छोड़ देना पड़ा। *भारत-यूरोपीय* नाम भी बहुत उपयुक्त नहीं है। इस नाम के अनुसार भारत और यूरोप में बोली जाने वाली सभी भाषाओं की गणना इस कुल में होनी चाहिये। किंतु भारत में ही द्राविड़ इत्यादि दूसरे कुलों की भाषाएं भी बोली जाती हैं। इस नाम में दूसरी त्रुटि यह है कि भारत और यूरोप के बाहर बोली जाने वाली ईरानी भाषा की उपशाखा का उल्लेख इसमें नहीं हो पाता। इन त्रुटियों के रहते हुए भी इस कुल का यही नाम प्रचलित हो गया है। अंग्रेज़ी तथा फ्रांसीसी विद्वान इस कुल को *भारतीय-यूरोपीय* नाम से ही पुकारते हैं।

हैं। यहूदियों की प्राचीन हिब्रू भाषा, जिसमें मूल बाइबिल लिखी गई थी, और प्राचीन अरबी भाषा जिसमें कुरान है, इसी कुल की है। आजकल इस कुल की उत्तराधिकारिणी वर्तमान अरबी तथा हबशी भाषाएँ हैं।

३—हैमिटिक कुल—इस कुल की भाषाएँ उत्तर अफ्रीका में बोली जाती हैं, जिनमें मिस्र देश की प्राचीन भाषा काप्टिक मुख्य है। प्राचीन काप्टिक के नमूने चित्र-लिपि में खुदे हुए मिलते हैं। उत्तर अफ्रीका के समुद्र तट के कुछ भाग में प्रचलित लीबियन या बर्बर, पूर्व भाग के कुछ अंश में बोली जाने वाली एथिओपियन, तथा सहारा मरुभूमि की हौसा भाषा इसी कुल में हैं। अरब के मुसलमानों के प्रभाव के कारण मिस्र देश की वर्तमान भाषा अब अरबी हो गई है। कुछ समय पूर्व मूल मिस्री भाषा काप्टिक के नाम से जीवित थी। मिस्र देश के मूल-निवासी, जो काप्टिक नाम से ही प्रसिद्ध हैं, अपनी भाषा के उद्धार का प्रयत्न कर रहे हैं।

४—तिब्बती-चीनी कुल—इस कुल को बौद्ध-कुल नाम देना अनुपयुक्त न होगा क्योंकि जापान को छोड़ कर शेष समस्त बौद्ध धर्मावलंबी देश, जैसे चीन, तिब्बत, बर्मा, स्याम तथा हिमालय के अंदर के प्रदेश इसी कुल की भाषाएँ बोलने वालों से बसे हैं। संपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में इस कुल की भाषाएँ प्रचलित हैं। इन सब में चीनी भाषा मुख्य है। ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक चीनी भाषा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

५—यूरल-अलटाइक कुल—इसको तूरानी या सीदियन कुल भी कहते हैं। इस कुल की भाषाएँ चीन के उत्तर में मंगोलिया, मंचूरिया तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की है। यूरोप में भी इसकी एक शाखा गई है, जिसकी भिन्न-भिन्न बोलियाँ रूस के कुछ पूर्वी भागों में बोली जाती हैं। कुछ विद्वान जापान तथा कोरिया की भाषाओं की गणना भी इसी कुल में करते हैं। दूसरे इन्हें तिब्बती-चीनी कुल में रखते हैं। फिनलैंड तथा हंगरी की भाषाएँ भी इस कुल की मानी जाती हैं।

६—द्राविड़ कुल—इस कुल की भाषाएँ दक्षिण-भारत में बोली जाती हैं, जिनमें मुख्य तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कन्नड हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये उत्तर-भारत की आर्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं।

७—मैले-पालीनेशियन कुल—मलाया प्रायद्वीप, प्रशांत महासागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो, इत्यादि द्वीपों तथा अफ्रीका के निकटवर्ती मडागास्कर द्वीप में इस कुल की भाषाएँ बोली जाती हैं। न्यूज़ीलैंड की भाषा भी इसी कुल की है। भारत में संथालों इत्यादि की कोल-भाषाएँ इसी कुल में गिनी जाती हैं। मलय-साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का पाया जाता है। जावा में तो ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों तक के लेख इसी कुल की भाषाओं में मिले हैं। इन देशों की सभ्यता पर भारत के हिंदू काल का बहुत प्रभाव पड़ा था।

८—बंटू कुल—इस कुल की भाषाएँ दक्षिणी अफ्रीका के आदिम-निवासी बोलते हैं। जंज़ीबार की स्वाहिली भाषा इसी कुल में है। यह व्यापारियों के बहुत काम की है।

९—मध्य-अफ्रीका कुल—उत्तर के हैमिटिक तथा दक्षिण के बंटू कुलों के बीच में, शेष मध्य-अफ्रीका में, एक तीसरे कुल की बोलियाँ बोली जाती हैं। इनकी गिनती मध्य-अफ्रीका कुल में की गई है। ब्रिटिश सूडन की भाषाएँ इसी कुल में हैं।

१०—अमेरिका की भाषाओं का कुल—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल-निवासियों की बोलियों को एक पृथक् कुल में स्थान दिया गया है। मध्य-अफ्रीका की बोलियों की तरह इनकी संख्या भी बहुत है, तथा इनमें आपस में भेद भी बहुत है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर बोली में अंतर हो जाता है।

११—आस्ट्रेलिया तथा प्रशांत महासागर की भाषाओं के कुल—आस्ट्रेलिया महाद्वीप तथा टस्मेनिया के मूल-निवासियों की भाषाएँ एक कुल के अंतर्गत रक्खी जाती हैं। प्रशांत महासागर के छोटे-छोटे द्वीपों में दो अन्य भिन्न कुलों की भाषाएँ बोली जाती हैं।

१२—शेष भाषाएँ—कुछ भाषाओं का वर्गीकरण अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ काकेशिया प्रदेश की भाषाओं को किसी कुल में सम्मिलित नहीं किया जा सका है। इनमें जार्जियन का प्रचार सब से अधिक है। यूरोप की वास्क तथा यूट्रस्कन नाम की भाषाएँ भी बिलकुल निराली हैं। संसार के किसी भाषा-कुल में इनकी गणना नहीं की जा सकी है। यूरोप के भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं से इनका कुछ भी संबंध नहीं है।

ख—भारत-यूरोपीय कुल[1]

संसार की भाषाओं के इन बारह मुख्य कुलों में भारत-यूरोपीय कुल से हमारा विशेष संबंध है। जैसा बतलाया जा चुका है, इस कुल की भाषाएँ प्रायः संपूर्ण यूरोप, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान तथा उत्तर भारत में फैली हुई हैं। इन्हें प्रायः दो समूहों में विभक्त किया जाता है, जो 'केंटुम्' और 'शतम्' समूह कहलाते हैं।[2] प्रत्येक समूह में चार-चार उपकुल हैं। इन आठों उपकुलों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है:—

१—आर्य वा भारत-ईरानी—इस उपकुल में तीन मुख्य शाखाएँ हैं। प्रथम में भारतीय आर्य-भाषाएँ हैं तथा दूसरे में ईरानी भाषाएँ। एक तीसरी शाखा दरद या पैशाची भाषाओं की भी मानी जाने लगी है इनका विशेष उल्लेख आगे किया जायगा।

---

[1] इ० ब्रि० (१४ वां संस्करण), देखिए 'इंडो-यूरोपीयन' शीर्षक लेख में भाषा-संबंधी विवेचन।

[2] भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं को दो समूहों में विभक्त करने का आधार कुछ कंठदेशीय मूल-वर्णों (क, ख, ग, घ,) का इन समूहों की भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करना है। एक समूह में ये स्पर्श व्यंजन ही रहते हैं, किंतु दूसरे में ये ऊष्म (सिबिलैंट्स) हो जाते हैं। यह भेद इन भाषाओं में पाए जाने वाले

२—आरमेनियन—आर्य उपकुल के पश्चिम में आरमेनियन है। इसमें ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। आरमेनियन भाषा यूरोप और एशिया की भाषाओं के बीच में है।

३—बाल्टो-स्लैवोनिक—इस उपकुल की भाषाएँ काले समुद्र के उत्तर में प्रायः संपूर्ण रूस में फैली हुई हैं। आर्य-उपकुल की तरह इसकी भी शाखाएँ हैं। बाल्टिक शाखा में लिथूएनियन, लेटिश और प्राचीन प्रशियन बोलियां हैं। स्लैवोनिक शाखा में बलगेरिया की प्राचीन भाषा, रूस की भाषाएँ, सर्वियन, स्लोवेन, पोलैंड की भाषा, जेक अथवा क्रोहेमियन और सर्व, ये मुख्य भेद हैं।

४—अलबेनियन—'शतम् समूह' की अंतिम भाषा अलबेनियन है। आरमेनियन की तरह इस पर भी निकटवर्ती भाषाओं का प्रभाव अधिक है। इस भाषा में प्राचीन साहित्य नहीं पाया जाता।

५—ग्रीक—'केंटुम समूह' की भाषाओं में यह उपकुल सब से प्राचीन है। प्रसिद्ध कवि होमर ने 'ईलियड' तथा 'ओडेसी' नामक महाकाव्य प्राचीन ग्रीक भाषा में ही लिखे थे। सुक़रात तथा अरस्तू के मूल-ग्रंथ भी इसी में हैं। आजकल भी यूनान देश में इसी प्राचीन भाषा की बोलियों में से एक का नवीन रूप बोला जाता है।

६—इटैलिक—प्राचीन रोमन साम्राज्य की लैटिन भाषा के कारण यह उपकुल विशेष आदरणीय हो गया है। यूरोप की संपूर्ण वर्तमान भाषाओं पर

"सौ" शब्द के दो भिन्न रूपों से भली प्रकार प्रकट होता है। लैटिन में, जो प्रथम समूह की भाषाओं में से एक है, 'सौ' के लिए 'केंटुम्' शब्द आता है; किंतु संस्कृत में, जो दूसरे समूह की है, 'शतम्' रूप मिलता है। पहला समूह प्रधानतया यूरोपीय है और 'केंटुम समूह' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे समूह में पूर्व-यूरोप, ईरान तथा भारत की आर्य-भाषाएँ सम्मिलित हैं। यह 'शतम् समूह' कहलाता है।

लैटिन और ग्रीक भाषाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में भी विज्ञान के शब्दों का निर्माण इन्हीं प्राचीन भाषाओं के सहारे होता है। इटली, फ्रांस, स्पेन, रूमानिया तथा पुर्तगाल की वर्तमान भाषाएँ लैटिन की पुत्रियां हैं।

७—केल्टिक—इस उपकुल की भाषाओं में दो मुख्य भेद हैं। एक का वर्तमान रूप आयलैंड में मिलता तथा दूसरे का ग्रेट ब्रिटेन के स्काटलैंड वेल्स तथा कार्नवाल प्रदेशों में पाया जाता है। इस उपकुल की पुरानी गाल भाषा अब जीवित नहीं है।

८—जर्मनिक या ट्यूटानिक—इसका प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओं में मिलता है। प्राचीन नार्स भाषा से निकट ऐतिहासिक काल में स्वीडेन, नार्वे, डेनमार्क तथा आइसलैंड की भाषाएँ निकली हैं। जर्मन, डच, फ्लेमिश तथा अंग्रेजी भाषाएँ इसी कुल में हैं।

ग—आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल

भारत-यूरोपीय कुल के इन आठ उपकुलों में आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल का कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, इसकी तीन मुख्य शाखाएँ हैं: १—ईरानी, २—दरद, तथा ३—भारतीय आर्य अथवा आर्यावर्त्ती।

१—ईरानी[1]—ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ईरान की भाषाओं के तीन भेद मिलते हैं—(क्ष) पुरानी ईरानी के सब से प्राचीन नमूने पारसियों के धर्मग्रंथ अवस्ता में मिलते हैं। अवस्ता के पुराने भाग ईसा से लगभग चौदह शताब्दी पूर्व के माने जाते हैं। अवस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत मिलती-जुलती

---

[1] इ० ब्रि० (१४ वां संस्करण), 'ईरानियन लैंग्वेजेज़ ऐंड पर्शियन'। लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० ९, 'ईरानियन ब्रांच'।

है। इसमें आश्चर्य भी नहीं, क्योंकि ईरान के प्राचीन लोग अपने को आर्यवर्ग का मानते थे। इसका उल्लेख उनके ग्रंथों में बहुत स्थलों पर आया है। अवस्ता के बाद पुरानी ईरानी भाषा के नमूने कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिला-खंडों और ईटों पर पाये गए हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध हखामनीय वंश के महाराज दारा (५२२-४८९ ई० पू०) के शिलालेख हैं। इन लेखों में दारा अपने आर्य होने का उल्लेख गर्व के साथ करता है। (त्र) पुरानी ईरानी के बाद माध्यमिक ईरानी का काल आता है। इसका मुख्य रूप पहलवी है। ईसवी तीसरी से सातवीं शताब्दी तक ईरान में शासनवंशी राजाओं ने राज्य किया था। उनके संरक्षण में पहलवी साहित्य ने उन्नति की थी। (ज्ञ) नई ईरानी का सबसे प्राचीन रूप फ़िरदौसी के शाहनामे में (१००९ ई०) मिलता है। फ़िरदौसी (९४०-१०२० ई०) ने सेमिटिक कुल की भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा में अधिक नहीं मिलने दिया था। परंतु आजकल साहित्यिक ईरानी में अरबी शब्दों की भरमार हो गई है। रूसी तुर्किस्तान की ताज़ीकी, अफ़ग़ानिस्तान की पश्तो तथा बलूचिस्तान की बलूची भाषाएँ नई ईरानी की ही प्रशाखाएँ हैं।

२—दरद[1]—कुछ यूरोपीय विद्वानों का मत है कि मध्य-एशिया की ओर से आर्य लोग भारत में कदाचित् दो मुख्य मार्गों से आए थे। एक तो हिंदूकुश पर्वत के पश्चिम से होकर काबुल के मार्ग से, और दूसरे वक्षु (आक्सस) नदी के उद्गम-स्थान से सीधे दक्षिण की ओर दुर्गम पर्वतों को पार करके। इस दूसरे मार्ग से आनेवाले समस्त आर्य उत्तर भारत के मैदानों में पहुँच गए होंगे, इसमें संदेह है। कम से कम कुछ आर्य हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में अवश्य रह गए होंगे। इन लोगों की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृत का विकास विशेष रूप भारत में आने के बाद हुआ था। आजकल इन भाषाओं के बोलनेवाले काश्मीर तथा उसके उत्तर में हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पाए जाते हैं। ये

---

[1] लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० १०

भाषाएँ भारतीय असंस्कृत आर्यभाषाएँ कहला सकती हैं? इनका दूसरा नाम पिशाच या दरद भाषाएँ भी है। काश्मीरी भाषा इन्हीं में से एक है। इस पर संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि कुछ दिनों पूर्व तक यह भारत की शेष आर्य-भाषाओं में गिनी जाती थी। काश्मीरी भाषा प्रायः शारदा लिपि में लिखी जाती है। काश्मीरी मुसलमान लोग फ़ारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

३—भारतीय-आर्य अथवा आर्यावर्ती—यह शाखा भी तीन कालों में विभक्त की जाती है—प्राचीन काल, मध्यकाल, तथा आधुनिक काल। (क्ष) प्राचीन काल की भाषा का अनुमान ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से हो सकता है। इस काल की भाषा का और कोई चिन्ह नहीं रहा है। (त्र) मध्यकाल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। पाली, अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, साहित्यिक प्राकृत तथा अप-भ्रंश भाषाएँ इसी काल में गिनी जाती हैं। (ज्ञ) आधुनिक काल में भारत की वर्तमान आर्य भाषाएँ हैं। इनके भिन्न-भिन्न रूप आजकल समस्त उत्तर-भारत में बोले जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि में इनमें हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती मुख्य हैं। इस शाखा की भाषाओं का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

संसार की भाषाओं में हिंदी का स्थान क्या है, यह अब स्पष्ट हो गया होगा। ऊपर दिये हुए पारिभाषिक नामों के सहारे संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संसार के भाषा समूहों में भारत-यूरोपीय-कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय-आर्य-शाखा की आधुनिक भाषाओं में से एक मुख्य भाषा हिंदी है।

२—आर्यावर्त्त अथवा भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास

क—आर्यों का मूल-स्थान तथा भारत-प्रवेश[1]

यह स्पष्ट है कि भारत की अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं के समान हिंदी भाषा का जन्म भी आर्यों की प्राचीन भाषा से हुआ है। भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा धीरे-धीरे हिंदी भाषा के रूप में कैसे परिवर्तित हो गई, यहाँ इसी पर विचार करना है। किंतु सब से पहले इन भारतीय आर्यों के मूल-स्थान के संबंध में कुछ जान लेना अनुचित न होगा।[2]

---

[1] लि० स० भूमिका, भा० १, अ० ८

[2] प्राचीन भारतीय ग्रंथों में आर्यों के भारत आगमन के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्य लोगों का मूल-स्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य-सृष्टि हुई थी, और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में भी आर्य लोग वहीं से आए थे।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के आधार पर लोकमान्य पंडित बालगंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती प्रदेश में आर्यों का मूलस्थान होना प्रतिपादन किया था। इस कल्पना का खंडन करते हुए बंगाल के एक नवयुवक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इंडिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आर्यों का मूलस्थान भारत में सरस्वती के तट पर अथवा उसी के उद्गम के निकट हिमालय के अंदर के हिस्से में कहीं पर था। उनके मतानुसार प्राचीन ग्रंथों मे ब्रह्मावर्त्त देश की पवित्रता का कारण कदाचित् यही था। यहीं से जाकर आर्य लोग ईरान में बसे। भारतीय आर्यों के पश्चिम की ओर बसनेवाली कुछ अनार्य जतियाँ, जिनकी भाषा पर

आर्यों का मूल निवासस्थान कहां था, इस संबंध में बहुत मतभेद हैं। भाषा-विज्ञान के आधार पर यूरोपीय विद्वानों का अनुमान है कि वे मध्य एशिया अथवा दक्षिण पूर्व यूरोप में कहीं रहते थे। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया है कि भारत-यूरोपीय कुल की यूरोपीय, ईरानी तथा भारतीय प्रशाखाएँ जहां पर मिली हैं, उसी के आस-पास कहीं इन भाषाओं के बोलनेवालों का मूल-स्थान होना चाहिए, क्योंकि उसी जगह से ये लोग तीन भागों में विभक्त हुए होंगे। सब से पहले यूरोपीय शाखा अलग हो गई थी, क्योंकि उसकी भाषाओं और शेष आर्यों की भारत-ईरानी भाषाओं में बहुत भेद है। ये शेष आर्य कदाचित् बहुत समय तक

आर्यभाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूलनिवासियों को विजय करके वहाँ जा बसी थीं। यूरोपीय भाषाओं में इसीलिए आर्यभाषा के चिह्न बहुत कम पाये जाते हैं। वास्तव में वे आर्य-भाषाएँ नहीं हैं।

जो कुछ हो, आर्यों के मूलस्थान के विषय में निश्चय-पूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिनमें यूरोप के विद्वानों का आधिक्य है आजकल यही मत है कि आर्यों का आदिम-स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं पर था। इस स्थान से ईरान तथा भारत की ओर आने के मार्ग के संबंध में दो मत हैं। पुराने मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन समुद्र के उत्तर से मध्य-एशिया में होकर माना जाता था। थोड़े दिन हुए, पश्चिम ईरान तथा टर्की में कुछ प्राचीन आर्य-देवताओं के नाम (मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य) एक लेख में मिले हैं। यह लेख लगभग १४०० ई० पू०काल का माना जाता है। इस कारण एक नवीन मत यह हो गया है कि भारत-ईरानी बोलनेवालों का एक समूह काले समुद्र के पश्चिम से होकर आया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी समुद्र में से कुछ लोग ईरान में बसते हुए आगे मध्य-एशिया तथा भारत की ओर बढ़ सकते हैं। मध्य-एशिया की प्रशाखा के लोग हिंदूकुश की घाटियों में होकर बाद को दरदिस्तान तथा काश्मीर में कदाचित् जा बसे हों। ये ही वर्तमान पैशाची या दरद भाषा के बोलने वालों के पूर्वज रहे होंगे। ईरानी विद्वान आर्यों का मूल निवासस्थान भारत मानते हैं।

ईरान में साथ रहते रहे। बाद को एक शाखा ईरान में रह गई और दूसरी भारत में चली आई। इन दोनों शाखाओं के प्राचीनतम ग्रंथ अवस्ता और ऋग्वेद हैं, जिनकी भाषा एक-दूसरी से बहुत कुछ मिलती है। उच्चारण के कुछ साधारण नियमों के अनुसार परिवर्तन करने पर दोनों भाषाओं का रूप एक हो जाता है।

भारत में आने वाले आर्य एक ही समय में नहीं आये होंगे, किंतु संभावना ऐसी है कि ये कई बार में आए होंगे। वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओं से पता चलता है कि आर्य लोग भारत में दो बार अवश्य आए थे।[1] ऋग्वेद तथा बाद के संस्कृत साहित्य में भी इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं।[2] यदि वे एक-दूसरे से बहुत समय के अनंतर आए होंगे, तो इनकी भाषा में भी कुछ भेद हो गया होगा। पहली बार में आने वाले आर्य कदाचित् काबुल की घाटी के मार्ग से आए थे, किंतु दूसरी बार में आने वाले आर्य किस मार्ग से आए थे, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संभावना ऐसी है कि ये लोग काबुल की

---

[1] भाषाशास्त्र के नियमों के अनुसार भाषाओं के सूक्ष्म भेदों पर विचार करने के अनंतर हार्नली साहब भी (हा० ई० हि० गै० भूमिका, पृ० ३२) इसी मत पर पहुँचे थे। उनके मत में प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे—एक शौरसेनी भाषा-समुदाय तथा दूसरा मागधी भाषा-समुदाय। मागधी भाषा का प्रभाव भारत के पश्चिमोत्तर कोने तक था। शौरसेनी के दबाव के कारण पश्चिम में इसका प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। ग्रियर्सन महोदय भी कुछ-कुछ इसी मत की पुष्टि करते हैं (लि० स० भूमिका, भा० १, पृ० ११६)

[2] ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से अरकोसिया का राजा दिवोदास तत्कालीन जान पड़ता है। अन्य ऋचाओं में दिवोदास के पौत्र पंजाब के राजा सुदास का वर्णन समकालीन की भाँति है। राजा सुदास की विजयों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने पुरु नाम की एक अन्य आर्यजाति पर, जो पूर्व यमुना के किनारे रहती थी, विजय प्राप्त की थी। पुरु लोगों को 'मृध्रवाच' अर्थात् 'अशुद्ध भाषा बोलने वाले' कह कर संबोधन किया है। उत्तर-भारत के आर्यों में इस भेद के होने के चिह्न

घाटी के मार्ग से नहीं आए, बल्कि गिलगित और चितराल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे।

पंजाब में उतरने पर इन नवागत आर्यों को अपने पुराने भाइयों से सामना करना पड़ा होगा, जो इतने दिनों तक इनसे अलग रहने के कारण कुछ भिन्न-भाषाभाषी हो गए होंगे। ये नवागत आर्य कदाचित् पूर्व पंजाब में सरस्वती नदी के निकट बस गए। इनके चारों ओर पूर्वागत आर्य बसे हुए थे। धीरे-धीरे ये नवागत आर्य फैले होंगे। संस्कृत-साहित्य में एक 'मध्यदेश'[1] शब्द आता है। इसका व्यवहार आरंभ में केवल कुरु, पंचाल और उसके उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिए हुआ है। बाद को इस शब्द से अभिप्रेत भूमिभाग की सीमा में विकास हुआ है। संस्कृत ग्रंथों ही के आधार पर हिमालय और विंध्य के बीच तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमिभाग 'मध्यदेश' कहलाने लगा था। इस भूमिभाग में बसने वाले लोग उत्तम माने गए हैं और उनकी भाषा भी प्रामाणिक मानी गई है। कदाचित् यह नवागत आर्यों की ही

बाद को भी बराबर मिलते हैं। ऋग्वेद में ही पश्चिम के ब्राह्मण वशिष्ठ और पूरब के क्षत्रिय विश्वामित्र की अनबन का बहुत कुछ उल्लेख मिलता है। विश्वामित्र ने रुष्ट होकर वशिष्ठ को 'यातुधान' अर्थात् राक्षस कहा था। यह वशिष्ठ को बहुत बुरा लगा। महाभारत का कुरु और पंचालों का युद्ध भी इस भेद की ओर संकेत करता है। लैसन साहब ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पंचाल लोग कुरुओं की अपेक्षा पहले से भारत में बसे हुए थे। रामायण से भी इस भेद-भाव की कल्पना की पुष्टि होती है। महाराज दशरथ मध्य-देश के पूर्व में कौशल जनपद के राजा थे, किंतु उन्होंने विवाह मध्य-देश के पश्चिम केकय जनपद में किया था। इक्ष्वाकु लोगों का मूल-स्थान सतलज के निकट इक्षुमति नदी के तट पर था। ये सब अनुमान तथा कल्पनाएँ पश्चिमी विद्वानों की खोज के फल-स्वरूप हैं।

[1] इस शब्द के विस्तृत विवेचन के लिए ना० प्र० प०, भा० ३, अं० १ में लेखक का 'मध्यदेश का विकास' शीर्षक लेख देखिये।

बस्ती थी, जो अपने को पूर्वागत आर्यों से श्रेष्ठ समझती थी। वर्तमान आर्य-भाषा हिंदी चारों ओर की शेष आर्य-भाषाओं से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् है।

इसी भूमिभाग की शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट है। कुछ विद्वान् साहित्यिक संस्कृत का उत्पत्ति-स्थान भी शूरसेन (मथुरा) प्रदेश ही मानते हैं।

ख—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल[1]

(१५०० ई० पू०—५०० ई० पू०)

भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा का थोड़ा-बहुत रूप अब केवल ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न-भिन्न देशकालों में हुई थी, किंतु उनका संपादन कदाचित् एक ही हाथ से एक ही काल में होने के कारण उसमें भाषा का भेद अब अधिक नहीं पाया जाता। ऋग्वेद का संपादन पश्चिम 'मध्यदेश' अर्थात् पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग में हुआ था, अतः यह इस भूमिभाग के आर्यों की भाषा का बहुत कुछ पता देता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। आर्यों की अपनी बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अंतर अवश्य रहा होगा। उस समय आर्यों की बोली का ठेठ रूप अब हमें कहीं नहीं मिल सकता। उसकी जो थोड़ी बहुत बानगी साहित्यिक भाषा में आ गई हो, उसी की खोज की जा सकती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त उस समय की भाषा का अन्य कोई भी आधार नहीं है। ऋग्वेद का रचना-काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इन आर्यों की ठेठ बोली प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा कहला सकती है। इस काल की बोलचाल की भाषा से मिश्रित साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है।

---

[1] लि० सं०, भूमिका, भा० १, अ० ११-१२

आर्यों की इस साहित्यिक भाषा में परिवर्तन होता रहा। इसके नमूने ब्राह्मण-ग्रंथों और सूत्र-ग्रंथों में मिलते हैं। सूत्र-काल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बाँधना आरंभ किया। पाणिनि ने (५०० ई० पू०) उसको ऐसा जकड़ा कि उसमें परिवर्तन होना बिल्कुल रुक गया। आर्यों की भाषा का यह साहित्यिक रूप संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका प्रयोग उस समय से अब तक संपूर्ण भारत में विद्वान् लोग धर्म और साहित्य में करते आए हैं। साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त आर्यों की बोलचाल की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती-जुलती आर्यों की मूल बोली भी धीरे-धीरे बदली होगी। जिस समय 'मध्यदेश' में संस्कृत साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी, उस समय की वहाँ के जन-समुदाय की बोली[1] के नमूने अब हमें प्राप्त नहीं हैं।

किंतु पूर्व में तत्कालीन परिवर्तित रूप बुद्ध भगवान के धर्म-प्रचार करने के कारण सर्वमान्य हो गया। इस मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल की बोली का कुछ नमूना हमें पाली में मिलता है। वास्तव में पाली में लोगों की बोली और साहित्यिक रूप का मिश्रण है। नवीनतम मत के अनुसार साहित्यिक पाली भाषा का मूलाधार पश्चिमी मध्यदेश की ही कोई समकालीन बोली थी। कुछ दिन पहले तक विद्वान् पाली का मूलाधार कोसल अथवा मगध की समकालीन बोली को समझते थे। उत्तर भारत के आर्यों की बोली में फिर भी परिवर्तन होता रहा। आजकल इसके भिन्न-भिन्न रूप उत्तर भारत की वर्तमान बोलियों और उनके साहित्यिक रूपों में मिलते हैं। इस अंतिमकाल को आधुनिक भारतीय आर्य-

---

[1] साहित्यिक भाषा से भिन्न लोगों की बोलियाँ भी अवश्य थीं, इसके प्रमाण हमें तत्कालीन संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। पतंजलि के समय में व्याकरण-शास्त्र जानने वाले केवल विद्वान ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे, तथा साधारण लोग 'प्राकृत भाषा' (स्वाभाविक बोली) बोलते थे।

भाषा-काल नाम देना उचित होगा। खड़ी बोली हिंदी इसी तृतीय काल की मध्यदेश की वर्तमान साहित्यिक भाषा है।

इन तीनों कालों के बीच में बिलकुल अलग-अलग लकीरें नहीं खींची जा सकती हैं। ऋग्वेद में जो एक-आध रूप मिलते हैं, उनको यदि छोड़ दिया जाय, तो मध्यकाल के उदाहरण अधिक मात्रा में पहले-पहल अशोक की धर्मलिपियों में (२५० ई० पू०) पाए जाते हैं। यहां यह प्राकृत प्रारंभिक अवस्था में नहीं है, किंतु पूर्ण विकसित रूप में है। मध्यकाल की भाषा से आधुनिक काल की भाषा में परिवर्तन इतने सूक्ष्म ढंग से हुआ है कि दोनों के मध्य की भाषा को निश्चित रूप से किसी एक में रखना कठिन है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी इन तीनों कालों में भाषाओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। प्रथम काल में भाषा संयोगात्मक है, तथा संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक किया गया है। द्वितीय काल में भी भाषा संयोगात्मक ही रही, किंतु संयुक्त स्वरों और व्यंजनों का प्रयोग बचाया गया है। इस काल के अंतिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्र प्राकृत के शब्दों में तो प्रायः केवल स्वर रह गए जो एक-आध व्यंजन के सहारे जुड़े हुए हैं। यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी। तृतीय काल में भाषा वियोगात्मक हो गई और स्वर के बीच में फिर संयुक्त वर्ण डाले जाने लगे। वर्तमान वाह्य समुदाय की एक दो भाषाएं तो आजकल फिर संयोगात्मक होने की ओर झुक रही है। इस प्रकार ये प्रथम काल की भाषा का रूप धारण कर रही हैं। मालूम होता है कि परिवर्तन का यह चक्र पूर्ण हुए बिना न रहेगा।

ग—मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-काल

(५०० ई० पू०—१००० ई०)

इसका उल्लेख किया जा चुका है कि प्रथम काल में बोलियों का भेद वर्तमान था। उस समय कम से कम दो भेद अवश्य थे—एक पूर्वप्रदेश में पूर्वागत आर्यों की बोली, और दूसरे पश्चिमी भाग अर्थात् 'मध्यदेश' में

नवागत आर्यों की बोली, जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। पश्चिमोत्तर भाग की भी कोई पृथक् बोली थी या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

१—पाली तथा अशोक की धर्म-लिपियाँ—(५०० ई० पू०—१ ई० पू०)—इस समय में भी बोलियों का भेद पाया जाता है। इस संबंध में महाराज अशोक की धर्म-लिपियों से पूर्व का हमें कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिलता। इन धर्म-लिपियों की भाषा देखने से विदित होता है कि उस समय उत्तर-भारत की भाषा में कम से कम तीन भिन्न-भिन्न रूप—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी—अवश्य थे। कोई दक्षिणी रूप भी था या नहीं, इस संबंध में निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इस काल की साहित्यिक भाषा पाली कदाचित् शौरसेनी की किसी प्राचीन बोली के आधार पर बनी थी।

२—साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ (१ ई०—५०० ई०)—लोगों की बोली में बराबर परिवर्तन होता रहा और अशोक का धर्मलिपियों की भाषाएँ ही बाद को 'प्राकृत' के नाम से प्रसिद्ध हुईं। मध्यकाल में संस्कृत के साथ-साथ साहित्य में इन प्राकृतों का भी व्यवहार होने लगा। इनमें काव्यग्रंथ तथा धर्म पुस्तकें लिखी जाने लगीं। संस्कृत नाटकों में भी इन्हें स्वतंत्रतापूर्वक बराबर की पदवी मिलने लगी। समकालीन अथवा कुछ समय के अनंतर होने वाले विद्वानों ने इन प्राकृत भाषाओं के व्याकरण रच डाले। साहित्य और व्याकरण के प्रभाव के कारण इनके मूल-रूप में बहुत अन्तर हो गया। इन प्राकृतों के साहित्यिक रूपों ही के नमूने आजकल हमें प्राकृत ग्रंथों में देखने को मिलते हैं। उस समय की बोलियों के शुद्ध रूप के संबंध में हम लोगों को अधिक ज्ञान नहीं है, तो भी अशोक की धर्मलिपियों की भाषा की तरह उस समय भी पूर्वी और पश्चिमी दो भेद तो स्पष्ट ही थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत था और पूर्वी का मागधी प्राकृत, अर्थात् मगध या दक्षिण बिहार की भाषा। इन दोनों के बीच में कुछ भाग की भाषा का रूप मिश्रित था, यह अर्ध-मागधी कहलाती थी। महाराष्ट्री प्राकृत आजकल के बरार प्रांत और उसके निकटवर्ती प्रदेश में बोली

जाती थी। एक अन्यमत के अनुसार यह शौरसेनी की ही काव्यगत शैली थी। इनके अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में कदाचित् एक भिन्न भाषा बोली जाती थी, जो प्रथम प्राकृतकाल में सिंधु नदी के तट पर बोली जानेवाली भाषा से निकली होगी। इस भाषा की स्थिति का प्रमाण अपभ्रंशों से मिलता है।

३—अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ई०—१००० ई०) —साहित्य में प्रयुक्त होने पर वैयाकरणों ने 'प्राकृत' भाषाओं को कठिन अस्वाभाविक नियमों से बांध दिया, किंतु जिन बोलियों के आधार पर उनकी रचना हुई थी, वे बांधी नहीं जा सकती थीं। लोगों की ये बोलियां विकास को प्राप्त हो गईं। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मँजी और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के सम्मुख वैयाकरणों ने लोगों की इन नवीन बोलियों का अपभ्रंश अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। भाषा-तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में इसका वास्तविक अर्थ, विकास को प्राप्त हुई भाषाएँ होगा।

जब साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाएँ हो गईं, उस समय इन अपभ्रंशों का भी भाग्य जगा और इनको भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। साहित्यिक अपभ्रंशों का आधार प्राकृतों को मानते थे। ये लेखक तत्कालीन बोली के आधार पर अत्यावश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश बना लेते थे, शुद्ध अपभ्रंश अर्थात् लोगों की असली बोली में नहीं लिखते थे। अतएव साहित्यिक प्राकृतों के समान साहित्यिक अपभ्रंशों से भी लोगों की तत्कालीन असली बोली का ठीक पता नहीं चल सकता। तो भी यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उस समय की बोली पर बहुत कुछ प्रकाश अवश्य पड़ सकता है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों को इस प्रकार विभक्त नहीं किया था। वे केवल तीन अपभ्रंशों के साहित्यिक रूप मानते थे। इनके नाम नागर, व्राचड और उपनागर थे। इनमें नागर अपभ्रंश मुख्य थी। वह गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी, जहां आजकल नागर ब्राह्मण बसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग

के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इन्हीं के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा। नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी) गुजराती ही थे। हेमचंद्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था। ब्राचड अपभ्रंश सिंध में बोली जाती थी। उपनागर अपभ्रंश ब्राचड तथा नागर के मेल से बनी थी, अतः यह पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की बोली होगी। अपभ्रंशों के संबंध में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार हेमचंद्र हैं, किंतु इन्होंने केवल नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कण्डेय के व्याकरण से भी इन अपभ्रंशों के संबंध में अधिक सहायता नहीं मिलती। इन अपभ्रंश भाषाओं का काल छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ईसवी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषाएँ द्वितीय काल की अंतिम अवस्था की द्योतक हैं।

घ—आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल

(१००० ई० से वर्तमान समय तक)

इनमें भारत की वर्तमान आर्य-भाषाओं की गणना है। इनकी उत्पत्ति प्राकृत भाषाओं से नहीं हुई थी, बल्कि अपभ्रंशों से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश से हिंदी, राजस्थानी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का संबंध है। इनमें से गुजराती राजस्थानी तथा पहाड़ी भाषाओं का संपर्क विशेषतया शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के रूप से है। बिहारी, बंगला, आसामी और उड़िया का संबंध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिंदी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से संबंध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओं का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिए प्राकृतों का कोई साहित्यिक रूप नहीं मिलता। सिंधी के लिए वैयाकरणों को ब्राचड अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लहँदा के लिए एक कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। यह ब्राचड अपभ्रंश से मिलती-जुलती रही होगी। पंजाबी का संबंध भी कैकय अपभ्रंश से ही माना जाता है, किंतु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है। पहाड़ी भाषाओं के लिए खस

अपभ्रंश की कल्पना की गई है, किंतु बाद को यह राजस्थानी से बहुत प्रभावित हो गई थीं।[१]

---

[१]अपभ्रंशों या प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं का इस तरह का संबंध बहुत संतोषजनक नहीं मालूम पड़ता। उदाहरण के लिए बिहारी, बंगाली, उड़िया तथा आसामी भाषाओं का संबंध मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। यदि इसका केवल इतना तात्पर्य हो कि मागधी अपभ्रंश के रूपों में थोड़े से ऐसे प्रयोग पाए जाते हैं जो आजकल इन समस्त पूर्वीय आर्यभाषाओं में भी मिलते हैं, तब तो ठीक है; किंतु यदि इसका यह तात्पर्य हो कि ५०० ई० से १००० ई० के बीच में बिहार, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा में केवल एक बोली थी, जिसका साहित्यिक रूप मागधी अपभ्रंश है, तब यह बात संभव नहीं मालूम होती। एक बोली बोलनेवाली जनता भी यदि इतने विस्तृत भूमि-खंड में फैल कर अधिक दिन रहेगी तो उसकी बोली के अनेक रूपांतर हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार मागधी प्राकृत समस्त पूर्वी प्रदेशों की साहित्यिक भाषा तो भले ही रही हो, किंतु १ ईसवी से ५०० ईसवी के बीच में इस प्राकृत से संबंध रखने वाली एक ही बोली समस्त पूर्वी प्रदेशों में बोली जाती हो, यह संभव नहीं प्रतीत होता। मेरी धारणा तो यह है कि मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएं मगध-प्रदेश की बोली के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाएँ रही होंगी। मगध के राजनीतिक प्रभाव के कारण वहां की बोली के आधार पर बनी हुई ये साहित्यिक भाषाएं समस्त पूर्वी प्रदेशों में मान्य हो गई होंगी। इन प्राकृत तथा अपभ्रंश कालों में बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मिथिला तथा काशी प्रदेश की बोलियाँ भिन्न-भिन्न रही होंगी। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण अपभ्रंश तथा प्राकृत काल के इन प्रदशों की भाषा के नमूने हमें उपलब्ध नहीं हो सके। मेरे अनुमान से बोलियों का यह भेद ६०० ई० पू० के लगभग भी कदाचित मौजूद था। इस भेद का मूलाधार आर्यों के प्राचीन जनपदों से संबंध रखता है। मेरी धारणा है कि १००० ई० पू० के लगभग काशी, मगध, विदेह, अंग, बंग, आदि जनपदों के आर्यों की बोलियाँ आज के इन प्रदेशों की बोलियों की अपेक्षा अधिक साम्य रखते हुए भी एक दूसरे से कुछ भिन्न अवश्य रही होंगी। तात्पर्य यह है कि

वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं का साहित्य में प्रयोग कम से कम तेरहवीं शताब्दी ईसवी के आदि से अवश्य प्रारंभ हो गया था तथा अपभ्रंशों का व्यवहार चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा था। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य बनने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं के अंतिम रूप अपभ्रंशों से तृतीय काल की आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का आविर्भाव दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ होगा। भारत की राजनीतिक उथल-पुथल

प्रत्येक जनपद की प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में कुछ विशेषताएं रही होगीं, जो विकास को प्राप्त हो कर आजकल की भिन्न-भिन्न भाषाएँ तथा बोलियाँ हो गई हैं। अतः आधुनिक भाषाओं और बोलियों का मूलभेद कदाचित् १००० ई०पू० तक पहुँच सकता है।

शौरसेनी आदि अन्य अपभ्रंशों तथा प्राकृतों के संबंध में भी मेरी यही कल्पना है। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी राजस्थानी गुजराती तथा पश्चिमी हिंदी निकली हो यह समझ में नहीं आता। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश शूरसेन प्रदेश अर्थात आजकल के ब्रजप्रदेश की उस समय की बोलियों के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाएँ रही होंगी। साथ ही उस काल में अन्य प्रदेशों में भी आजकल की भाषाओं तथा बोलियों के पूर्व रूप प्रचलित रहे होंगे जिनका प्रयोग साहित्य में न होने के कारण उनके अवशेष अब हमें नहीं मिल सकते। आजकल भी ठीक ऐसी ही परिस्थिति है।

आज बीसवीं सदी ईसवी में भागलपुर तक समस्त गंगा की घाटी में केवल एक साहित्यिक भाषा हिन्दी है, जिसका मूलाधार मेरठ बिजनौर प्रदेश की खड़ी बोली है किंतु साथ ही मारवाड़ी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली आदि अनेक बोलियाँ अपने-अपने प्रदेशों में मौजूद हैं। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण बीसवीं सदी की इन अनेक बोलियों के नमूने भविष्य में नहीं मिल सकेंगे। केवल खड़ी बोली हिंदी के नमूने जीवित रह सकेंगे। किंतु इस कारण पाँच सौ वर्ष बाद यह कहना कहां तक उपयुक्त होगा कि पचासवीं शताब्दी में गंगा की घाटी में पाई जाने

में इसी समय एक स्मरणीय घटना हुई थी। १००० ईसवी के लगभग ही महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण किया था। इन आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हमारी हिंदी भाषा भी सम्मिलित है, अतः उसका जन्मकाल भी दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग मानना होगा।

वाली समस्त बोलियाँ खड़ी बोली हिंदी से निकली हैं। उस समय के उत्तर भारत की समस्त भाषाओं में खड़ी बोली हिंदी गंगा की घाटी की बोलियों के निकटतम अवश्य होगी, किंतु यह तो दूसरी बात हुई।

प्रत्येक आधुनिक भाषा तथा बोलियों के प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्यभाषा-काल के क्रमबद्ध उदाहरण मिलना संभव नहीं है, अतः इस विषय पर शास्त्रीय ढंग से विवेचन हो सकना असंभव है। तो भी अपने देश तथा अन्य देशों की आधुनिक परिस्थिति को देख कर इस तरह का अनुमान लगाना बिलकुल स्वाभाविक होगा। कुछ प्रदेशों के संबंध में थोड़ा बहुत क्रमबद्ध अध्ययन भी संभव है। हिंदुस्तान की आधुनिक बोलियों के प्रदेशों के प्राचीन जनपदों से साम्य के संबंध में ना० प्र० प०, ३ अं० ४ में विस्तार के साथ विचार प्रकट किए गए हैं।

आधुनिक आर्यावर्त्ती अथवा भारतीय आर्यभाषाएँ

क—वर्गीकरण

भाषातत्व के आधार पर ग्रियर्सन महोदय[1] आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को तीन उपशाखाओं में विभक्त करते हैं, जिनके अंदर छः भाषासमुदाय मानते हैं। यह वर्गीकरण निम्नलिखित कोष्ठक में दिखलाया गया है:—

क्ष—बाहरी उपशाखा

पश्चिमोत्तरी समुदाय

१—लहंदा

२—सिंधी

दक्षिणी समुदाय

३—मराठी

पूर्वी समुदाय

४—उड़िया

५—बंगाली

६—असमी

७—बिहारी

त्र—बीच की उपशाखा

बीच का समुदाय

८—पूर्वी हिंदी

ज्ञ—भीतरी उपशाखा

---

[1] लि० स०, भूमिका, ११

अंदर का समुदाय

९—पश्चिमी हिंदी

१०—पंजाबी

११—गुजराती

१२—भीली

१३—खानदेशी

१४—राजस्थानी

पहाड़ी समुदाय

१५—पूर्वी पहाड़ी या नैपाली

१६—बीच की पहाड़ी[1]

१७—पश्चिमी पहाड़ी

ग्रियर्सन महोदय के मतानुसार बाहरी उपशाखा की भिन्न-भिन्न भाषाओं में उच्चारण तथा व्याकरण-संबंधी कुछ ऐसे साम्य पाए जाते हैं जो उन्हें भीतरी उपशाखा की भाषाओं से पृथक कर देते हैं।[2] उदाहरणार्थ भीतरी उपशाखा की भाषाओं के 'स' का उच्चारण बाहरी उपशाखा की बंगला आदि पूर्वी समुदाय की भाषाओं में 'श' हो जाता है तथा पश्चिमोत्तरी समुदाय की कुछ भाषाओं में 'ह' हो जाता है। संज्ञा के रूपांतरों में भी यह भेद पाया जाता है। भीतरी उपशाखा की भाषाएँ अभी तक वियोगावस्था में हैं, किंतु बाहरी उपशाखा की भाषाएँ इस अवस्था से निकल कर प्राचीन आर्य-भाषाओं के समान संयोगावस्था को प्राप्त हो चली हैं। उदाहरणार्थ हिंदी में संबंधकारक 'का' 'के' 'की' लगा कर बनाया जाता है। इन चिह्नों का संज्ञा से पृथक् अस्तित्व है। यही कारक बंगला में, जो

---

[1] १९२१ की जन-संख्या में बीच की पहाड़ी बोलनेवालों की भाषा प्रायः हिंदी लिखी गई है, अतः इनकी संख्या केवल ३८५३ दिखलाई गई है।

[2] लि० स०, भूमिका अ० ११

बाहरी उपशाखा की भाषा है, संज्ञा में 'एर' लगा कर बनता है और यह चिह्न संज्ञा का एक भाग हो जाता है। क्रिया के रूपांतरों में भी इस तरह के भेद पाए जाते हैं, जैसे हिंदी में तीनों पुरुष के सर्वनामों के साथ केवल एक 'मारा' कृदंत रूप का व्यवहार होता है, किंतु बंगला तथा बाहरी समुदाय की अन्य भाषाओं में अधिक रूपों का प्रयोग करना पड़ता है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं को दो या तीन उपशाखाओं में विभक्त करने के सिद्धांत से चैटर्जी महोदय सहमत नहीं हैं, और इस संबंध में उन्होंने पर्याप्त प्रमाण[1] भी दिए हैं। चैटर्जी महोदय के वर्गीकरण को आधार मान कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का स्वाभाविक वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया जा सकता है।[2] ग्रियर्सन साहिब के समुदायों के विभाग से यह वर्गीकरण कुछ साम्य रखता है:—

	बोलने वालों की संख्या १९३१ की जनसंख्या
	क० ला०
क—उदीच्य (उत्तरी)	
१—सिंधी	०—४०
२—लहंदा	४—८६
३—पंजाबी	१—३९
ख—प्रतीच्य (पश्चिमी)	
४—गुजराती	१—९
ग—मध्यदेशीय (बीच का)	
५—राजस्थानी	१—६१
६—पश्चिमी हिंदी ७—पूर्वी हिंदी	७—८४

---

[1] चै०, बे०, लें०, § २९-३१, § ७६-७९

[2] चै०, बे०, लें०, पृ० ५ मानचित्र।

८—बिहारी	२—७९
९—पहाड़ी	०—२८
घ—प्राच्य (पूर्वी)	
१०—उड़िया	१—१२
११—बंगाली	५—३५
१२—असमी	०—२०
ङ—दाक्षिणात्य (दक्षिणी)	
१३—मराठी	२—९

पहाड़ी भाषाओं का मूलाधार चैटर्जी महोदय पैशाची, दरद, या खस को मानते हैं। बाद को मध्यकाल में ये राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं से बहुत अधिक प्रभावित हो गई थीं।

हबूड़ी या जिप्सी बोलियां तथा सिंहाली भाषा भी आधुनिक आर्य भाषाओं के अंतर्गत हैं।

ख—संक्षिप्त वर्णन

भाषा सर्वे[1] के आधार पर प्रधान आधुनिक आर्य भाषाओं का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

१—सिंधी—सिंध प्रांत में सिंधु नदी के दोनों किनारों पर सिंधी भाषा बोली जाती है। इस भाषा के बोलनेवाले प्रायः मुसलमान हैं, इसलिए इसमें फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता से होता है। सिंधी भाषा फ़ारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है, यद्यपि नित्य के हिसाब-किताब में देवनागरी लिपि का एक बिगड़ा हुआ रूप व्यवहृत होता है। यह कभी-कभी गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। सिंधी भाषा की पांच मुख्य बोलियां हैं जिनमें से मध्यभाग की 'बिचोली'

---

[1] लि० स०, भूमिका, अ० १३-१५

बोली साहित्य की भाषा का स्थान लिए हुए है। सिंध प्रदेश में ही पूर्व काल में ब्राचड देश था, जहां की प्राकृत और अपभ्रंश इस देश के अनुसार ब्राचड नाम से प्रसिद्ध थीं। सिंध के दक्षिण में कच्छद्वीप में कच्छी बोली जाती है। यह सिंधी और गुजराती का मिश्रित रूप है। सिंधी भाषा में साहित्य बहुत कम है।

२—**लहंदा**—यह पश्चिमी पंजाब की भाषा है। यह प्रदेश अब पाकिस्तान में चला गया है। लहंदा और पंजाबी भाषा की सीमाएँ ऐसी मिली हुई हैं कि दोनों में भेद करना दुःसाध्य है। लहंदा पर दरद या पिशाच भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है। इसी प्रदेश में प्राचीन केकय देश पड़ता है, जहां पैशाची प्राकृत तथा केकय अपभ्रंश बोली जाती थी। लहंदा के अन्य नाम पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्चा, तथा हिंदकी आदि हैं। पंजाबी में लहंदे की बोली का अर्थ 'पश्चिम की बोली' है। लहंदा शब्द का अर्थ सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम है। लहंदा में न तो विशेष साहित्य है और न यह कोई साहित्यिक भाषा ही है। एक प्रकार से यह कई मिलती-जुलती बोलियों का समूह मात्र है। लहंदा का व्याकरण और शब्द-समूह दोनों पंजाबी से बहुत-कुछ भिन्न हैं। यद्यपि इसकी अपनी भिन्न लिपि 'लंडा' है, किंतु आजकल यह प्रायः फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है।

३—**पंजाबी**—पंजाबी भाषा का भूमि-भाग हिंदी के ठीक पश्चिमोत्तर में है। यह पाकिस्तानी पंजाब के पूर्वी भाग तथा पूर्वी पंजाब के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। पूर्वी पंजाब के पूर्वी भाग में हिंदी का क्षेत्र है। पंजाबी पर दरद अथवा पिशाच भाषाओं का कुछ प्रभाव शेष है। पंजाबी भाषा लहंदा से ऐसी मिली हुई है कि दोनों को अलग करना कठिन है, किंतु पश्चिमी हिंदी से इसका भेद स्पष्ट है। पंजाबी की अपनी लिपि लंडा ही है। यह राजपूताने की 'महाजनी' और काश्मीर की 'शारदा' लिपि से मिलती-जुलती है। यह लिपि बहुत अपूर्ण है और इसके पढ़ने में बहुत कठिनता होती है। सिक्खों के गुरु अंगद (१५३८-५२ ईसवी) ने देवनागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया था। लंडा का यह नया रूप 'गुरुमुखी' कहलाया। आजकल पंजाबी भाषा की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं।

मुसलमानों के अधिक संख्या में होने के कारण पंजाब में उर्दू भाषा का प्रचार बहुत था। पंजाबी भाषा का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। इस भाषा में साहित्य अधिक नहीं है। सिक्खों के ग्रंथ साहब की भाषा प्रायः मध्यकालीन हिंदी (ब्रज) है, यद्यपि वह गुरुमुखी अक्षरों में लिखा गया है। पंजाबी भाषा में बोलियों का भेद अधिक नहीं है। उल्लेख, योग्य केवल एक बोली 'डोग्री' है। यह जम्बू राज्य में बोली जाती है। 'टक्करी' या 'टाकरी' नाम की इसकी लिपि भी भिन्न है।

४—गुजराती—गुजराती भाषा गुजरात, बड़ौदा और निकटवर्ती अन्य देशी राज्यों में बोली जाती है। गुजराती में बोलियों का स्पष्ट भेद अधिक नहीं है। पारसियों द्वारा अपनाई जाने के कारण गुजराती पश्चिमी भारत में व्यवसाय की भाषा हो गई है। भीली और खानदेशी बोलियों का गुजराती से बहुत संपर्क है। गुजराती का साहित्य बहुत विस्तीर्ण तो नहीं है, किंतु तो भी उत्तम अवस्था में है। गुजराती के आदि कवि नरसिंह मेहता (जन्म १४१३ ईसवी) का गुजरात में अब भी बहुत आदर है। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचंद्र भी गुजराती थे। यह बारहवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। इन्होंने अपने व्याकरण में गुजराती की नागर अपभ्रंश का वर्णन किया है। प्राचीन काल से अब तक की भाषा के क्रम-पूर्व उदाहरण केवल गुजराती में ही मिलते हैं। अन्य स्थानों की आर्यभाषाओं में यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, किंतु अब गुजराती में कैथी से मिलते-जुलते देवनागरी के बिगड़े हुए रूप का प्रचार हो गया है, जो गुजराती लिपि कहलाती है।

५—राजस्थान—पंजाबी के ठीक दक्षिण में राजस्थानी अथवा राजस्थान की भाषा है। एक प्रकार से यह मध्य देश की प्राचीन भाषा का ही दक्षिणी-पश्चिमी विकसित रूप है और इसे हिंदी की उपभाषा मानना उचित होगा। इस विकास की अंतिम सीढ़ी गुजराती है, किंतु उसमें भेदों की मात्रा अधिक हो

गई है। राजस्थानी में मुख्य चार बोलियां हैं—मेवाती, जयपुरी, मारवाड़ी और मालवी।

राजस्थानी भाषा बोलने वाले भूमि-भाग में हिंदी भाषा की साहित्यिक भाषा है। यह स्थान अभी तक राजस्थान की बोलियों में से किसी को नहीं मिल सका है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य प्रधानतया डिंगल अथवा पुरानी साहित्यिक मारवाड़ी में है। पुरानी मारवाड़ी और गुजराती में बहुत कम भेद है। निज के व्यवहार में राजस्थानी महाजनी लिपि में लिखी जाती है। मारवाड़ियों के साथ महाजनी लिपि समस्त उत्तर भारत में फैल गई है। छपाई में देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होता है।

६—पश्चिमी हिंदी—यह मनुस्मृति के 'मध्यदेश' की वर्तमान भाषा कही जा सकती है। मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी हिंदी के ही एक रूप खड़ी बोली से वर्तमान साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इसकी एक दूसरी बोली ब्रजभाषा पूर्वी हिंदी की बोली अवधी के साथ कुछ काल पूर्व तक साहित्य के क्षेत्र में वर्तमान खड़ी बोली हिंदी का स्थान लिए हुए थी। इन दो बोलियों के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी में बांगरू, कनौजी तथा बुंदेली बोलियां सम्मिलित हैं, किंतु साहित्य की दृष्टि से ये विशेष ध्यान देने योग्य नहीं है। समस्त हिंदी भाषी प्रदेश का वर्तमान साहित्य खड़ी बोली हिंदी में ही लिखा जा रहा है। पढ़े-लिखे मुसलमानों में उर्दू का प्रचार है।

७—पूर्वी हिंदी—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, पूर्वी हिंदी का क्षेत्र पश्चिमी हिंदी के पूर्व में पड़ता है। यह कुछ बातों में पश्चिमी हिंदी से मिलती है और कुछ में बिहारी भाषा से। व्याकरण के अधिकांश रूपों में इसका संबंध पश्चिमी हिंदी से है, किंतु कुछ विशेष लक्षण पूर्वीय समुदाय की भाषाओं के भी मिलते हैं। पूर्वी हिंदी भाषा में तीन मुख्य बोलियां हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी बोली का दूसरा नाम कोसली भी है। कोसल अवध का प्राचीन नाम था। तुलसीदास जी के समय से श्री रामचंद्र जी के यशगान में प्रायः अवधी का ही प्रयोग होता रहा

है। जैन-धर्म के प्रवर्तक महावीर जी ने अपने धर्म का प्रचार करने में यहां की ही प्राचीन बोली अर्द्धमागधी का प्रयोग किया था। बहुत-सा जैन-साहित्य अर्द्ध-मागधी प्राकृत में है। अर्द्धमागधी में कुछ साहित्य मिलता है। पूर्वी हिंदी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और छपाई में सदा इसी का प्रयोग होता है। लिखने में कभी-कभी कैथी लिपि भी काम में आती है। अपने प्राचीन रूप अर्द्धमागधी प्राकृत के समान पूर्वी हिंदी अब भी बीच की भाषा है। इसके पश्चिम में शौरसेनी प्राकृत का नया रूप पश्चिमी हिंदी है और पूर्व में मागधी प्राकृत की स्थानापन्न बिहारी भाषा है।

८—बिहारी—यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध उत्तरप्रांत से ही रहा है, किंतु उत्पत्ति की दृष्टि से यहां की भाषा बंगाली की बहिन है। बंगाली, उड़िया और असमी के साथ इसकी उत्पत्ति भी मागध अपभ्रंश से हुई है। मागध अपभ्रंश के बोले जाने वाले भूमि-भाग में ही आजकल बिहारी बोली जाती है। बिहारी भाषा में तीन मुख्य बोलियां हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी। इनमें मैथिली और मगही एक दूसरे के अधिक निकट हैं, किन्तु भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। चैटर्जी महोदय भोजपुरी को मैथिली-मगही से इतना भिन्न मानते हैं कि ग्रियर्सन साहब की तरह वे इन तीनों को एक साथ रख कर बिहारी भाषा नाम देने को सहसा उद्यत नहीं हैं।[1] बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी अक्षर व्यवहार में आते हैं तथा लिखने में साधारणतया कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणों की एक अपनी लिपि अलग है, जो मैथिली कहलाती है और बंगला अक्षरों से बहुत मिलती हुई है। बिहारी बोले जानेवाले प्रदेश में हिंदी साहित्यिक भाषा है। बिहारी प्रांत में शिक्षा का माध्यम भी हिंदी ही है।

९—पहाड़ी भाषाएँ—हिमालय के दक्षिण पार्श्व में नैपाल से शिमला प्रदेश

---

[1] चै०, बे० लें०, ५२

तक पहाड़ी भाषाएँ बोली जाती हैं। इसके तीन मुख्य रूप हैं—क-पश्चिमी पहाड़ी, ख-मध्य पहाड़ी, ग-पूर्वी पहाड़ी। वर्तमान पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। विशेषतया माध्यमिक पहाड़ी का संबंध जयपुरी से और पश्चिमी पहाड़ी का संबंध मारवाड़ी से अधिक मालूम होता है। पश्चिमी तथा मध्य-पहाड़ी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्व काल में यहां गूजर आकर बस गए थे। बाद को ये लोग पूर्व राजस्थान की ओर चले गए थे। मुसलमान काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में आ बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नैपाल को जीता था, उस समय इन खस विजेताओं के साथ यहां के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। इस संघर्ष के कारण ही राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में कुछ समानता पाई जाती है।

१०—उड़िया—प्राचीन उत्कल देश अथवा वर्तमान उड़ीसा प्रांत में यह भाषा बोली जाती है। इसको उत्कली अथवा ओड़ी भी कहते हैं। उड़िया शब्द का शुद्ध रूप ओड़िया है। सब से प्रथम कुछ उड़िया शब्द तेरहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में आए हैं। प्रायः एक शताब्दी के बाद का एक अन्य शिलालेख मिलता है, जिसमें कुछ वाक्य उड़िया भाषा में लिखे पाए गए हैं। इन शिलालेखों से विदित होता है कि उस समय तक उड़िया भाषा बहुत कुछ विकसित हो चुकी थी। उड़िया लिपि बहुत कठिन है। इसका व्याकरण बंगाली से बहुत मिलता-जुलता है, इसलिए बंगाली के कुछ पंडित इसे बंगाली भाषा की एक बोली समझते थे, किंतु यह भ्रम था। बंगाली के साथ ही उड़िया भी मागधी अपभ्रंश से निकली है। बंगाली और उड़िया आपस में बहिनें हैं; इनका संबंध मां-बेटी का नहीं है। उड़िया लोग बहुत काल तक विजित रहे हैं। आठ शताब्दी तक उड़ीसा में तैलगों का राज्य रहा। अभी कुछ ही काल पूर्व तक नागपुर के भोंसले राजाओं ने उड़ीसा पर राज्य किया है। इन कारणों से उड़िया भाषा में तेलगू और मराठी शब्द बहुतायत से पाए जाते हैं। मुसलमानों और अंग्रेजों के कारण फ़ारसी और अंग्रेज़ी शब्द तो हैं ही। उड़िया साहित्य विशेषतया कृष्ण-संबंधी है।

११—बंगाली—बंगाली भाषा गंगा के मुहाने और उसके उत्तर-पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। गाँव तथा नगर के बंगालियों की बोली में बहुत अंतर है। साहित्य की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रचार कदाचित् बंगाली में सबसे अधिक है। उत्तरी-पूर्वी तथा पश्चिमी बंगाली में भेद है। पूर्वी बंगाली का केंद्र ढाका है। यह भाग अब पाकिस्तान में चला गया है। हुगली के निकट बोली जाने वाली पश्चिमी बंगाली का ही एक रूप वर्तमान साहित्यिक भाषा हो गया है। बंगाली उच्चारण की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का 'श' कर देना प्रसिद्ध ही है। इस भाषा का साहित्य उत्तम अवस्था में है। बंगाली लिपि पुरानी देवनागरी का ही एक रूपांतर है।

१२—असमी—जैसा इसके नाम से प्रकट है, यह असम प्रदेश में बोली जाती है। वहाँ के लोग इसे असमिया कहते हैं। उड़िया की तरह असमी भी बंगाली की बहिन है, बेटी नहीं। यद्यपि असमी व्याकरण बंगाली व्याकरण से बहुत भिन्न नहीं है, किंतु इन दोनों की साहित्यिक प्रगति पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। असमी भाषा के प्राचीन साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें ऐतिहासिक ग्रंथों की कमी नहीं है। अन्य भारतीय आर्य भाषाओं में यह बहुत खटकता है। असमी भाषा प्रायः बंगाली लिपि में लिखी जाती है, यद्यपि इसमें कुछ सुधार अवश्य कर लिए गए हैं।

१३—मराठी—दक्षिण में महाराष्ट्री अपभ्रंश की पुत्री मराठी भाषा है। वह बंबई प्रांत में पूना के चारों ओर तथा बरार प्रांत और मध्यप्रांत के दक्षिण के नागपुर आदि चार ज़िलों में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषाएँ हैं। इनकी तीन मुख्य बोलियां हैं, जिसमें से पूना के निकट बोली जानेवाली देशी मराठी साहित्यिक भाषा है। मराठी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। नित्य के व्यवहार में 'मोड़' लिपि का व्यवहार होता है। इसका आविष्कार महाराज शिवाजी (१६२७-८० ई०) के सुप्रसिद्ध मंत्री बालाजी अवाजी ने किया था। मराठी का साहित्य विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है।

४—हिंदी तथा उसकी उपभाषाएँ और बोलियाँ

क—हिंदी की उपभाषाएँ और साहित्यिक रूप

१—हिंदी का शब्दार्थ तथा प्रचलित अर्थ—संस्कृत की 'स' ध्वनि फ़ारसी में 'ह' के रूप में पाई जाती है, अतः संस्कृत के 'सिंधु' और 'सिंधी' शब्दों के फ़ारसी रूप 'हिंद' और 'हिंदी' हो जाते हैं। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिंदवी' या 'हिंदी' शब्द फ़ारसी भाषा का ही है। संस्कृत, प्राकृत अथवा आधुनिक भारतीय-आर्य-भाषाओं के किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इसका व्यवहार नहीं किया गया है। फ़ारसी में 'हिंदी' का शब्दार्थ हिंद से संबंध रखने वाला है; किंतु इसका प्रयोग 'हिंद के रहनेवाले' अथवा 'हिंद की भाषा' के अर्थ में होता रहा है। 'हिंदी' शब्द के अतिरिक्त फ़ारसी से ही 'हिंदू' शब्द भी आया है। हिंदू शब्द का व्यवहार फ़ारसी में 'इस्लाम धर्म के न मानने वाले हिंदवासी' के अर्थ में प्रायः मिलता है। इसी अर्थ के साथ यह शब्द अपने देश में प्रचलित हो गया है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है; किंतु आजकल वास्तव में इसका व्यवहार उत्तर-भारत के मध्य-देश के हिंदुओं की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा साथ ही इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे सम्बंध रखनेवाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि-भाग की सीमाएँ पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाड़ी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक

पहुँचती हैं। इस भूमि-भाग में हिंदुओं के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओं, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र साहित्यिक खड़ी-बोली हिंदी ही है। साधारणतया 'हिंदी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है, किंतु साथ ही इस भूमि-भाग की ग्रामीण बोलियों—जैसे मारवाड़ी, ब्रज, छत्तीसगढ़ी, मैथिली आदि—को तथा प्राचीन डिंगल, हिंदवी, ब्रज, अवधी तथा मैथिली आदि साहित्यिक भाषाओं को भी हिंदी भाषा के ही अंतर्गत माना जाता है। समस्त भूमिभाग की जन-संख्या १२ करोड़ से अधिक है।[1]

२—हिंदी की उपभाषाएँ—भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ऊपर दिए हुए भूमिभाग में पाँच उपभाषाएँ मानी जाती हैं। राजस्थान की बोलियों के समुदाय को 'राजस्थानी' के नाम से पृथक् उपभाषा माना गया है। बिहार की मिथिला और पटना-गया की बोलियों तथा उत्तरप्रदेश की बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बोलियों के समूह को एक भिन्न 'बिहारी' उपभाषा माना जाता है। उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों की बोलियाँ 'पहाड़ी' उपभाषा' के नाम से पृथक् मानी जाती हैं शेष भूमि भाग में हिंदी के दो उपरूप माने जाते हैं, पश्चिमी तथा पूर्वी हिंदी की पश्चिमी और पूर्वी बोलियों के बोलने वालों की संख्या लगभग ८ करोड़ है। ग्रियर्सन आदि कुछ विद्वानों ने 'हिंदी भाषा' शब्द का प्रयोग केवल इसी भूमिभाग की बोलियों तथा उनकी आधारभूत साहित्यिक भाषाओं के अर्थ में किया है।

३—उर्दू—आधुनिक खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी के उस दूसरे साहित्यिक

---

[1] भारत संघ के विधान में भी इस समस्त प्रदेश में एक ही प्रधान साहित्यिक भाषा हिंदी मानी गई है। इसी को संघ की राज भाषा भी माना गया है। संघ द्वारा स्वीकृत भाषाओं की पूर्ण सूची निम्नलिखित है। १—असमी २—बंगाली, ३—गुजराती, ४—हिंदी, ५—कन्नड, ६—काश्मीरी, ७—मलयालम, ८—मराठी, ९—उड़िया, १०—पंजाबी, ११—संस्कृत, १२—तामिल, १३—तेलगू, और १४—उर्दू।

रूप का नाम उर्दू है, जिसका व्यवहार पाकिस्तान तथा उत्तरभारत के पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा उनसे अधिक संपर्क में आनेवाले कुछ हिंदुओं, जैसे पंजाबी, काश्मीरी तथा पुरानी पीढ़ी के कायस्थों आदि में पाया जाता है। व्याकरण के रूपों की दृष्टि से इन दोनों साहित्यिक भाषाओं में विशेष अंतर नहीं है, वास्तव में दोनों का मूलाधार एक ही है, किंतु साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह, तथा लिपि में दोनों में आकाश-पाताल का भेद है। साहित्यिक खड़ीबोली इन सब बातों के लिए भारत की प्राचीन संस्कृत तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है; उर्दू भारत के वातावरण में उत्पन्न होने और बढ़ने पर भी ईरान और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी की अपेक्षा खड़ी बोली उर्दू का व्यवहार पहले होने लगा था। भारतवर्ष में आने पर बहुत दिनों तक मुसलमानों का केंद्र दिल्ली रहा, अतः फ़ारसी, तुर्की और अरबी बोलने वाले मुसलमानों ने जनता में बातचीत और व्यवहार करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के अड़ोस-पड़ोस की बोली सीखी। इस बोली में अपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतंत्रतापूर्वक मिला लेना इनके लिए स्वाभाविक था। इस प्रकार की बोली का व्यवहार सबसे प्रथम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् देहली के महलों के बाहर क़िले की शाही फ़ौजी बाजारों में होता था, अतः इसी से दिल्ली के पड़ोस की बोली के इस विदेशी शब्दों से मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' पड़ा। तुर्की भाषा में उर्दू शब्द का अर्थ बाज़ार है। वास्तव में आरंभ में उर्दू बाज़ारू भाषा थी। शाही दरबार से संपर्क में आनेवाले हिंदुओं का इसे अपनाना स्वाभाविक था, क्योंकि फ़ारसी-अरबी शब्दों से मिश्रित किंतु अपने देश की एक बोली में इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियों से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी। जिस तरह ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर भारतीय भाषाएँ बोलने वाले भारतीय, अंग्रेज़ी से अधिक प्रभावित होने लगते थे, उसी तरह मुसलमान धर्म ग्रहण कर लेने वाले हिंदुओं में फ़ारसी के बाद उर्दू का विशेष आदर होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे यह उत्तर-भारत की शिष्ट मुसलमान जनता की अपनी

भाषा ही गई। शासकों द्वारा अपनाए जाने के कारण यह उत्तर भारत के समस्त शिष्ट-समुदाय की भाषा मानी जाने लगी। जिस तरह आजकल पढ़े-लिखे हिंदीभाषी के मुंह से 'मुझे चांस (Chance) नहीं मिला' निकलता है, उसी तरह उस समय 'मुझे मौका नहीं मिला' निकलता होगा। जनता इसी को 'मुझे अवसर या औसर नहीं मिला' कहती होगी, और अब भी कहती है। उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुआ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खड़ी बोली है। यह बोली आधुनिक साहित्यिक हिंदी की भी मूलाधार है। अतः उद्गम की दृष्टि से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिंदी सगी बहनें हैं। विकसित होने पर इन दोनों में जो अंतर हुआ उसे रूपक में यों कह सकते हैं कि एक तो हिंदुआनी बनी रही और दूसरी ने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया।

एक अंग्रेज विद्वान ग्रेहम बेली महोदय ने उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में एक नया विचार रक्खा है। उनकी समझ में उर्दू की उत्पत्ति दिल्ली में खड़ी बोली के आधार पर नहीं हुई, बल्कि इसके पहले ही पंजाबी के आधार पर यह लाहौर के आसपास बन चुकी थी और दिल्ली में आने पर मुसलमान शासक इसे अपने साथ ही लाए थे। खड़ी बोली के प्रभाव से इसमें बाद को कुछ परिवर्तन अवश्य हुए, किंतु इसका मूलाधार पुरानी पंजाबी को मानना चाहिए, खड़ी बोली को नहीं। इस संबंध में बेली महोदय का सबसे बड़ा तर्क यह है कि दिल्ली को शासन-केंद्र बनाने के पूर्व १००० से १२०० ई० तक लगभग दो सौ वर्ष मुसलमान आक्रमणकारी पंजाब में रहे। उस समय वहाँ की जनता से संपर्क में आने के लिए उन्होंने कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी और यह भाषा तत्कालीन पंजाबी ही हो सकती है। यह स्वाभाविक है कि भारत में आगे बढ़ने पर ये इसी भाषा का प्रयोग करते रहे हों। बिना पूर्ण खोज के उर्दू की उत्पत्ति के संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस समय सर्वसम्मत मत यही है कि उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिंदी, दोनों की मूलाधार दिल्ली-मेरठ की खड़ी बोली ही है।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण के सूफ़ी कवियों और मुसलमान दरबारों से आरंभ हुआ। उस समय दिल्ली-आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फ़ारसी को मिला हुआ था। साधारण जन-समुदाय की भाषा होने के कारण अपने घर पर उर्दू हेय समझी जाती थी। है दराबाद रियासत की जनता की भाषाएँ भिन्न द्राविड़ वंश की थी, अतः उनके बीच में यह मुसलमानी आर्यभाषा, शासकों की भाषा होने के कारण, विशेष गौरव की दृष्टि से देखी जाने लगी. इसीलिए उसका साहित्य में प्रयोग करना बुरा नहीं समझा गया। औरंगाबादी वली उर्दू के प्रथम प्रख्यात कवि माने जाते हैं। वली के क़दमों पर ही मुगल-काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली और उसके बाद लखनऊ के मुसलमानी दरबारों में भी उर्दू भाषा में कविता करने वाले कवियों का एक समूदाय बन गया, जिसने बाज़ारू बोली को साहित्यिक भाषाओं के सिंहासन पर बैठा दिया। फ़ारसी शब्द के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को 'रेख़्ता' (शब्दार्थ 'मिश्रित') कहते हैं। स्त्रियों की भाषा 'रेख़्ती' कहलाती है। दक्षिणी मुसलमानों की भाषा 'दक्खिनी' उर्दू या हिंदवी कहलाती है। इसमें फ़ारसी शब्द कम इस्तेमाल होते हैं और उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा कम परिमार्जित है। ये सब उर्दू के रूप-रूपांतर हैं। हिंदी भाषा के गद्य के समान उर्दू भाषा का गद्य साहित्य में व्यवहार अंग्रेज़ी शासन-काल में विकसित हुआ। मुद्रणकला के साथ इसका प्रचार अधिक बढ़ा। उर्दू भाषा अरबी-फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाती है। पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रांत तथा राजस्थान के कुछ राज्यों में कचहरी, तहसील और गाँव में उर्दू में ही सरकारी कागज़ लिखे जाते थे, अतः नौकरीपेशा हिंदुओं को भी इसकी जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य था। अतः आगरा दिल्ली की ओर हिंदुओं में इसका अधिक प्रचार होना स्वाभाविक था। पंजाबी भाषा में विशेष साहित्य न होने के कारण पंजाबी लोगों ने इसे साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा था। अब हिंदी-भाषी प्रदेश में हिंदुओं के बीच उर्दू का प्रभाव तेज़ी से कम हो रहा है।

४—हिंदुस्तानी—'हिंदुस्तानी' नाम यूरोपीय लोगों का दिया हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द उर्दू का पर्यायवाची था किंतु इधर कुछ दिनों से उर्दू का बोलचाल

वाला रूप हिंदुस्तानी कहलाता है। केवल बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण इसमें फ़ारसी शब्दों की भरमार नहीं रहती यद्यपि इसका झुकाव फ़ारसी की तरफ़ अवश्य रहता है। उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू के समान ही इसका आधार भी खड़ी बोली है। एक तरह से वह हिंदी-उर्दू की अपेक्षा खड़ी बोली के अधिक निकट है, क्योंकि यह फ़ारसी संस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है। साधारण श्रेणी के लोगों के लिए लिखे गए साहित्य में हिंदुस्तानी का प्रयोग पाया जाता है। ये क़िस्से, ग़ज़लों और भजनों आदि की बाज़ारू किताबें फ़ारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में छापी जाती हैं। हिंदुस्तानी के समान ठेठ हिंदी में कुछ साहित्यिक पुरुषों ने लिखने का प्रयास किया है। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'ठेठ हिंदी का ठाठ' तथा 'बोलचाल' ठेठ हिंदी को साहित्यिक बनाने के प्रयोग हैं, जिनमें ये सज्जन सफल नहीं हो सके।

इस पुस्तक में खड़ी बोली का शब्द प्रयोग दिल्ली-मेरठ के आसपास बोली जानेवाली गाँव की भाषा के अर्थ में किया गया है। भाषा-सर्वे में ग्रियर्सन महोदय ने इस बोली को 'वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी' नाम दिया है किंतु इसके लिये खड़ी बोली अथवा सिर्फ़ हिंदी नाम अधिक उपयुक्त है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, हिंदी, उर्दू तथा हिंदुस्तानी या ठेठ हिंदी इन समस्त रूपों का मूलाधार यह खड़ी बोली ही है। कभी-कभी ब्रज-भाषा, अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओं से भेद दिखलाने को आधुनिक साहित्यिक हिंदी को भी खड़ी बोली नाम से पुकारा जाता है।[1]

---

[1]इस अर्थ में खड़ी बोली का सब से प्रथम प्रयोग लल्लूजी लाल ने 'प्रेम सागर' की भूमिका में किया है। लल्लूजी लाल के ये वाक्य खड़ी बोली शब्द के व्यवहार पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं, अतः ज्यों के त्यों नीचे उद्धृत किये जाते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिंदी के आदि रूप का भी यह उद्धरण अच्छा नमूना है। लल्लूजी लाल लिखते हैं—"एक समै व्यासदेव कृत श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्रजभाषा किया। सो पाठशाला के

ब्रजभाषा और इस 'साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी, का झगड़ा बहुत पुराना हो चुका है। साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रयुक्त खड़ी बोली शब्द के अर्थ को स्पष्ट-रूप से समझ लेना चाहिए। ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी सी लगती है, कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा। हिंदी-उर्दू भाषाएँ साहित्यिक खड़ी बोली मात्र हैं। हिंदुस्तानी भी बोलचाल की कुछ परिमार्जित खड़ी बोली है।

ऊपर के विस्तृत विवेचन से हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी या ठेठ हिंदी तथा खड़ी बोली के शब्दों के मूल अर्थ तथा शास्त्रीय अर्थ का भेद स्पष्ट हो गया होगा। हिंदी भाषा से संबंध रखनेवाले ग्रंथों में इन शब्दों का शास्त्रीय अर्थ में ही प्रयोग होता है।

ख—हिंदी की ग्रामीण बोलियाँ

ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्राचीन 'मध्यदेश' की मुख्य बोलियों के समुदाय को भाषाशास्त्र की दृष्टि से हिंदी नाम से पुकारा जाता है। इनमें से खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली, इन पाँच को भाषा-सर्वे में 'पश्चिमी हिंदी' उपभाषा नाम दिया गया है, तथा अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढी, इन शेष तीन को 'पूर्वी हिंदी' उपभाषा के नाम से पुकारा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिंदी का संबंध शौरसेनी प्राकृत तथा पूर्वी हिंदी का संबंध अर्द्धमागधी प्राकृत से जोड़ा जाता है। राजस्थानी उपभाषा के अंतर्गत चार प्रधान बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती तथा मालवी। भोजपुरी, मैथिली तथा मगही बोलियों को बिहारी

लिये श्री महाराजाधिराज, पुण्यधान, महाजान मारकुइस विलजलि गवरनर जनरल प्रतापी के राज में श्रीयुत गुनगाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० ई० में श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्त्र अवदीच आगरे वाले ने विसका सार ले यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह नाम प्रेमसागर धरा।"

उपभाषामाना गया है। पहाड़ी के अंतर्गत तीन प्रधान रूप हैं—पश्चिमी, मध्य (गढ़वाली-कमायूनी) तथा पूर्वी या नेपाली। भाषा-सर्वे के आधार पर इन समस्त बोलियों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

अ—पश्चिमी उपभाषा

१—खड़ी बोली—खड़ी बोली या सिरहिंदी पश्चिम रुहेलखंड, गंगा के उत्तरी दोआब तथा अंबाला जिले की बोली है। सिरहिंदी आदि से इसका संबंध ऊपर बतलाया जा चुका है। मुसलमानी प्रभाव के निकटतम होने के कारण ग्रामीण खड़ी बोली में भी फ़ारसी-अरबी के शब्दों का व्यवहार हिंदी की अन्य बोलियों की अपेक्षा अधिक है। किंतु ये प्रायः अर्द्धतत्सम अथवा तद्भव रूपों में प्रयुक्त होते हैं। इन्हीं को तत्सम रूप में प्रयुक्त करने से खड़ी बोली में उर्दू की झलक आने लगती है। खड़ी बोली निम्नलिखित स्थानों में गाँवों में बोली जाती है:—रामपुर, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग। इस बोली के बोलनेवालों की संख्या ५३ लाख के लगभग है। इस संबंध में निम्नलिखित यूरोपीय देशों की जन-संख्या के अंक रोचक प्रतीत होंगे—ग्रीस ५४ लाख, बलगेरिया ४९ लाख, तथा तीन भाषाएँ बोलनेवाला स्विटज़रलैंड ३९ लाख। ग्रियर्सन ने इसी बोली को वर्नाक्युलर हिंदुस्तानी नाम से पुकारा है।

२—बांगरू—बांगरू बोली जाटू या हरियानी नाम से भी प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, कर्नाल, रोहतक और हिसार जिलों और पड़ोस के पटियाला, नाभा और झींद रियासतों के गाँवों में बोली जाती है। वास्तव में यह पंजाबी और राजस्थानी मिश्रित खड़ी बोली है। बांगरू बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है। बांगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। हिंदी-भाषी प्रदेश के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र पानीपत तथा कुरुक्षेत्र इसी बोली की सीमा के अंतर्गत पड़ते हैं अतः इसे हिंदी की सरहदी बोली मानना अनुचित न होगा। नवीनतम मत के अनुसार

यह खड़ी बोली का ही एक उपरूप है, और इसको हिंदी की स्वतंत्र बोली मानना चित्य है।

३—ब्रजभाषा—प्राचीन हिंदी साहित्य की दृष्टि से ब्रज की बोली की गिनती साहित्यिक भाषाओं में होने लगी, इसलिए आदरार्थ यह ब्रजभाषा कह कर पुकारी जाने लगी। विशुद्ध रूप में यह बोली अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ़ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुड़गाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इसमें राजस्थानी और बुंदेली की कुछ-कुछ झलक आने लगती है। बुलंदशहर, बदायूँ और नैनीताल तराई में खड़ी बोली का प्रभाव शुरू हो जाता है, तथा एटा, मैनपुरी और बरेली के ज़िलों में कुछ कनौजीपन आने लगता है। वास्तव में पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कनौजी की अपेक्षा ब्रजभाषा के अधिक निकट है। ब्रजभाषा बोलनेवालों की संख्या लगभग ७९ लाख है। तुलना के लिए नीचे लिखी जन-संख्या के अंक रोचक प्रतीत होंगे—टर्की ८० लाख, बेलिजियम ७७ लाख, हंगरी ७८ लाख, आस्ट्रिया ६१ लाख तथा पुर्तगाल ६० लाख।

जब से गोकुल वल्लभ-संप्रदाय का केंद्र हुआ, तब से ब्रजभाषा में कृष्ण-साहित्य लिखा जाने लगा। धीरे-धीरे यह बोली समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई। १९ वीं शताब्दी में धीरे-धीरे साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली ने ब्रजभाषा का स्थान ग्रहण किया।

४—कनौजी—कनौजी बोली का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के बीच में है। कनौजी को पुराने कनौज राज्य की बोली समझना चाहिये। कनौजी का केंद्र फ़र्रुखाबाद है, किंतु उत्तर में यह हरदोई, शाहजहाँपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। कनौजी बोलनेवालों की संख्या ४५ लाख है। ब्रजभाषा के पड़ोस में होने के कारण साहित्य के क्षेत्र में कनौजी कभी भी आगे नहीं आ सकी। इस भूमिभाग में प्रसिद्ध कविगण तो कई हुए, किंतु इन सबने ब्रजभाषा में ही अपनी रचनाएँ कीं। वास्तव में कनौजी कोई स्वतंत्र बोली नहीं है, बल्कि ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है।

५—बुंदेली—बुंदेली बुंदेलखंड की बोली है। शुद्धरूप में यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओड़छा, सागर, नृसिंहपुर, सेओनी तथा हुशंगाबाद में बोली जाती है। इसके कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा छिंदवाड़ा के कुछ भागों में पाए जाते हैं। बुंदेली बोलनेवालों की संख्या ६९ लाख के लगभग है। मध्य-काल में बुंदेलखंड साहित्य का प्रसिद्ध केंद्र रहा है, किंतु यहाँ होनेवाले कवियों ने भी ब्रजभाषा में ही कविता की है, यद्यपि इनकी भाषा पर अपनी बुंदेली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुंदेली बोली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली एक ही बोली के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं।

अ—पूर्वी उपभाषा

६—अवधी—हरदोई ज़िले को छोड़ कर शेष अवध की बोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी में तो बोली ही जाती है, किंतु इन ज़िलों के अतिरिक्त दक्षिण में गंगापार, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर और मिर्ज़ापुर में तथा जौनपुर के कुछ हिस्सों में भी बोली जाती है। बिहार के मुसलमान भी अवधी बोलते हैं। इस मिश्रित अवधी का विस्तार मुज़फ़्फ़रपुर तक है। अवधी बोलनेवालों की संख्या लगभग १ करोड़ ४२ लाख है। ब्रजभाषा के साथ अवधी में कुछ साहित्य लिखा गया था, यद्यपि बाद को ब्रजभाषा की प्रतिद्वंद्विता में यह ठहर न सकी। 'पद्मावत', 'रामचरितमानस', तथा 'कृष्णायन' अवधी के सुप्रसिद्ध ग्रंथ-रत्न हैं।

७—बघेली—अवधी के दक्षिण में बघेली का क्षेत्र है। इसका केंद्र रीवां राज्य है, किंतु यह मध्यप्रांत के दमोह, जबलपुर, मांडला तथा बालाघाट के जिलों तक फैली हुई है। बघेली बोलनेवालों की संख्या लगभग ४६ लाख है। जिस तरह बुंदेलखंड के कवियों ने ब्रजभाषा को अपना रक्खा था उसी तरह रीवां के दरबार में बघेली कविगण साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का आदर करते थे। नई

खोज के अनुसार बघेली स्वतंत्र बोली नहीं है, बल्कि अवधी का ही दक्षिणी रूप है।

८—छत्तीसगढ़ी—छत्तीसगढ़ी को लरिया या खल्ताही भी कहते हैं। यह मध्यप्रांत में रायपुर और बिलासपुर के ज़िलों तथा काँकेर, नंदगाँव, खैरगढ़, रायगढ़, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर तथा जयपुर, आदि राज्यों में भिन्न-भिन्न रूपों में बोली जाती हैं। छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या लगभग ३३ लाख है जो डेनमार्क की जन-संख्या के बिल्कुल बराबर है। मिश्रित रूपों को मिलाकर बोलनेवालों की संख्या ३८ लाख के लगभग हो जाती है, जो स्विटज़रलैंड की जन-संख्या से टक्कर लेने लगती है। छत्तीसगढ़ी में पुराना साहित्य बिल्कुल नहीं है। कुछ नई बाज़ारू किताबें अवश्य छपी हैं।

इ—बिहारी उपभाषा

९—भोजपुरी—यह प्राचीन काशी जनपद की बोली है। बिहार के शाहाबाद ज़िले में भोजपुर एक छोटा-सा क़स्बा और परगना है। इस बोली का नाम इसी स्थान से पड़ा है, यद्यपि यह दूर-दूर तक बोली जाती है। भोजपुरी बोली बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, गाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, बस्ती, आज़मगढ़, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैली हुई है। बोलनेवालों की संख्या पूरे दो करोड़ के लगभग है। भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नहीं है। संस्कृत का केंद्र होने के अतिरिक्त काशी हिंदी साहित्य का भी प्राचीन केंद्र रहा है, किंतु भोजपुरी बोली से घिरे रहने पर भी इस बोली का प्रयोग साहित्य में कभी नहीं किया गया। काशी में रहते हुए भी कविगण प्राचीन काल में ब्रज तथा अवधी में और आधुनिक काल में साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी में लिखते रहे हैं।

१०—मैथिली—यह बोली बिहार प्रांत में प्रधानतया गंगा के उत्तरी भाग में चंपारन-सारन ज़िलों को छोड़कर शेष प्रदेश में बोली जाती है। मैथिली बोलनेवालों की संख्या लगभग १ करोड़ है। इसका केंद्र दरभंगा राज्य कहा जा सकता है।

इस बोली का प्रयोग साहित्य रचना के लिए भी हुआ है। संस्कृत के प्रसिद्ध

लेखक विद्यापति ने मैथिली में भी कुछ रचना की थी। मिथिला तथा नेपाल के राजदरबारों में मैथिली पद मिश्रित संस्कृत नाटक भी लिखे गए थे। मैथिली की अपनी प्रादेशिक लिपि है जो बंगाली लिपि से मिलती जुलती है।

११—मगही—मगही बोली बिहार प्रांत में गंगा के दक्षिण में शाहाबाद ज़िले को छोड़कर शेष प्रदेश के उत्तरी भाग में बोली जाती है। पटना, गया ज़िले इसके केंद्र माने जा सकते हैं। मगही बोलनेवालों की संख्या ६५ लाख है। इस बोली का साहित्यिक महत्त्व नहीं है। प्रादेशिक रूप में लिखने में कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मगही शब्द वास्तव में मागधी शब्द का अपभ्रंश रूप है।

ई—राजस्थानी उपभाषा

१२—मारवाड़ी—मारवाड़ी-मेवाड़ी बोलियों को पश्चिमी राजस्थानी कहा जा सकता है। यह बोली अरावली के पश्चिम और दक्षिण के भागों में प्रधानतया जोधपुर, बीकानेर, जैसलमीर तथा उदयपुर राज्यों में बोली जाती है। मारवाड़ी बोलनेवालों की संख्या लगभग ६० लाख है। व्यापार के कारण मारवाड़ी वैश्य समस्त उत्तर भाग के नगरों में फैले पड़े हैं। पुरानी मारवाड़ी अथवा डिंगल में लिखा प्रचुर साहित्य उपलब्ध है।

१३—जयपुरी—पूर्वी राजस्थानी के अंतर्गत दो प्रधान उपरूप मिलते हैं, जयपुरी तथा हाड़ौती। ये बोलियाँ जयपुर तथा कोटा-बूंदी राज्यों में बोली जाती हैं। जयपुरी, हाड़ौती में विशेष साहित्य रचना नहीं हुई। पूर्वी राजस्थान के दरबारों ने व्रजभाषा साहित्य को ही सदा प्रश्रय दिया। पूर्वी राजस्थानी बोलनेवालों की संख्या लगभग ३० लाख है।

१४—मेवाती—मेवाती तथा अहीरवाटी बोलियां उत्तर राजस्थान में अलवर राज्य तथा पूर्वी पंजाब के दक्षिणी भाग के गुड़गाँव ज़िले के निकवर्ती प्रदेश में बोली जाती है। मेवाती का साहित्यिक महत्त्व कभी नहीं रहा। इसको बोलनेवालों की

संख्या १६ लाख के लगभग है। मेवाती पर ब्रजभाषा तथा अहीरवाटी पर हरियाणी या खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट है।

१५—मालवी—मालवी अर्थात् मालवा की बोली उपभाषा के अंतर्गत है। इसे दक्षिणी राजस्थानी कहा जा सकता है। इसका केंद्र मध्यभारत का इंदौर राज्य है। मालवी बोली का भी साहित्यिक महत्त्व नहीं है। इसके बोलनेवालों की संख्या ४४ लाख के लगभग है।

उ—पहाड़ी उपभाषा

१६—पहाड़ी बोलियाँ—पहाड़ी उपभाषा के अंतर्गत अनेक बोलियां हैं जिन्हें तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है। **क**—पश्चिमी पहाड़ी, **ख**—मध्य पहाड़ी तथा **ग**—पूर्वी पहाड़ी। समस्त पहाड़ी बोलियों के बोलनेवालों की संख्या ९८ लाख के लगभग है।

पश्चिमी पहाड़ी बोलियों का समूह शिमला के निकटवर्ती प्रदेश में बोला जाता है। इन बोलियों का कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है न इनमें साहित्य ही पाया जाता है। इस प्रदेश में तीस से अधिक बोलियों का पता चला है जिनमें उत्तरप्रदेश के जौनसार-बावर प्रदेश की बोली जौनसारी, शिमला पहाड़ की बोली क्योंथली, कुलू प्रदेश की कुलूई और चंबा राज्य की चंबाली मुख्य है। चंबाली बोली की लिपि भिन्न है। शेष टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती हैं। पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश में हिंदी ही साहित्यिक भाषा के रूप में चलती है।

मध्य पहाड़ी के दो मुख्य भेद हैं १—कुमायूंनी, जो अलमोड़ा-नैनीताल प्रदेश की बोली है, और २—गढ़वाली, जो गढ़वाल राज्य तथा मसूरी के निकटवर्त्ती पहाड़ी प्रदेश में बोली जाती है। उन दोनों बोलियों का साहित्यिक महत्त्व नहीं है। यहाँ के लोगों ने साहित्यिक व्यवहार के लिए पूर्ण रूप से साहित्यिक हिंदी को अपना लिया है।

पूर्वी पहाड़ी नेपाल की बोली है। इसे नेपाली, पर्वतिया, गुरखाली तथा खसकुरा

भी कहते हैं। पूर्वी पहाड़ी या नेपाली का विशुद्ध रूप काठमांडू की घाटी में बोला जाता है। इसमें कुछ साहित्य-रचना हुई है और नेपाल राज्य की संरक्षिता के कारण वर्तमान समय में भी इसको प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

गोरखा सिपाहियों के कारण यूरोपीय विद्वानों का ध्यान इसकी ओर विशेष गया। नेपाली भाषा का अध्ययन जर्मन तथा रूसी विद्वानों ने विशेष किया है। यह देव नागरी लिपि में लिखी जाती है। नेपाल राज्य की अधिकांश प्रजा की भाषाएँ तिब्बती-चीनी कुल की हैं जिनमें नेवार जाति के लोगों की भाषा नेवारी मुख्य है। नैपाल में साहित्यिक हिंदी का महत्त्व समझा जाता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उत्तर प्रदेश में पांच मुख्य बोलियां बोली जाती हैं—अर्थात् मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली, मथुरा-आगरा की ब्रजभाषा लखनऊ-फ़ैज़ाबाद की अवधी तथा बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी तथा पहाड़ी प्रदेश की गढ़वाली-कुमायूंनी। कनौजी बोली पूर्वी ब्रजभाषा मात्र है।

देहली कमिश्नरी की बांगरू बोली खड़ी बोली का सरहदी रूप है। उत्तर प्रदेश की झांसी कमिश्नरी, उत्तरी मध्य-भारत, विंध्यप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में बुंदेली, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी का क्षेत्र है, जिनके केंद्र क्रम से झाँसी, रीवां तथा रायपुर हैं। राजस्थान की प्रधान बोली मारवाड़ी है तथा जयपुरी, मेवाती और मालवी राजस्थानी उपभाषा की गौण बोलियां हैं। बिहार प्रांत में मैथिली तथा मगही बोलियां बोली जाती हैं। उपर्युक्त बोलियों में खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी वर्त्तमान समय में इस समस्त प्रदेश की प्रधान साहित्यिक भाषा है। खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी ही भारत संघ की राजभाषा स्वीकृत हो गई है। गौण साहित्यिक भाषाएँ निम्नलिखित रही हैं—ब्रज भाषा, अवधी, मारवाड़ी या डिंगल, मैथिली तथा खड़ी बोली की उर्दू शैली।

५—हिन्दी शब्दसमूह[1]

शब्द समूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचड़ी होती है। किसी भी भाषा के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आदि विशुद्ध रूप में आजतक चली जाती है। भाषा के माध्यम की सहायता से दो व्यक्ति अथवा समुदाय अपने विचार एक-दूसरे पर प्रकट करते हैं, अतः भाषा का मिश्रित होना उसका स्वभाव ही समझना चाहिए। भाषा के संबंध में 'विशुद्ध' शब्द से केवल इतना ही तात्पर्य हो सकता है कि किसी विशेष काल अथवा देश में उसका यह विशेष रूप प्रचलित था या है। उन्हीं अवस्थाओं में वह भाषा विशुद्ध कहला सकती है, दूसरे देश अथवा उसी देश में दूसरे काल में उसी भाषा का रूप बदल जायगा और तब इस परिवर्तित रूप को ही 'विशुद्ध' की उपाधि मिल सकेगी। यदि भरतपुर के गांव में आजकल 'का खन उतरे हे ह्याँ' कहना विशुद्ध भाषा का प्रयोग करना है तो मेरठ ज़िले में इसी पर लोगों को हँसी आ जाती है। मेरठ में 'कब उत्रे थे ह्याँ' ऐसा कहना ही शुद्ध भाषा का प्रयोग करना हो सकता है। भरतपुर के उसी गाँव में पाँच सौ वर्ष बाद यही बात किसी दूसरे 'विशुद्ध' रूप में कही जायगी और पाँच सौ वर्ष पहिले कदाचित् भिन्न 'विशुद्ध रूप' में कही जाती रही होगी। अतः अन्य समस्त भाषाओं के समान ही हिंदी शब्दसमूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओं का संग्रह मौजूद है।

साधारणतया हिंदी शब्दसमूह तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

क—भारतीय आर्यभाषाओं का शब्दसमूह।

ख—भारतीय अनार्यभाषाओं से आए हुए शब्द।

ग—विदेशी भाषाओं के शब्द।

---

[1]चै० बें० लै०, ४, ११-१२३, लि० स०, भूमिका, पृ० १२७ इ०

क—भारतीय आर्य भाषाओं का शब्दसमूह

१—तद्भव—हिंदी शब्दसमूह में सब से अधिक संख्या उन शब्दों की है जो प्राचीन आर्यभाषाओं से मध्यकालीन भाषाओं में होते हुए चले आ रहे हैं। वैयाकरणों की परिभाषा में ऐसे शब्दों को 'तद्भव' कहते हैं, क्योंकि ये संस्कृत से उत्पन्न माने जाते थे। इनमें से अधिकांश का संबंध संस्कृत शब्दों से अवश्य जोड़ा जा सकता है, किंतु जिन शब्दों का संबंध संस्कृत से नहीं जुड़ता उनमें ऐसे शब्द भी हो सकते हैं जिनका उद्गम प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ऐसे शब्दों से हुआ हो जिनका व्यवहार इसके साहित्यिक रूप संस्कृत में न होता हो। अतः तद्भव शब्द का संस्कृत शब्द से संबंध निकल आना अनिवार्य नहीं है। इस श्रेणी के शब्द प्रायः मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं म होकर हिन्दी तक पहुँचे हैं, अतः इनमें के अधिकांश से रूपों में बहुत परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। जनता की बोलियों में तद्भव शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाए जाते हैं। साहित्यिक हिंदी में इनकी संख्या कम होती जाती है, क्योंकि ये गँवारू समझे जाते हैं। वास्तव में ये असली हिंदी शब्द हैं और इनके प्रति विशेष ममता होनी चाहिए। कृष्ण की अपेक्षा 'कान्हा' व 'कन्हैया' हिंदी का अधिक सच्चा शब्द है।

२—तत्सम—साहित्यिक हिंदी में तत्सम अर्थात् प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के साहित्यिक रूप अर्थात् संस्कृत के विशुद्ध शब्दों की संख्या सदा से अधिक रही है। आधुनिक साहित्यिक भाषा में तो यह संख्या और भी अधिक बढ़ती जा रही है। इसका कारण कुछ तो नवीन भाषा की आवश्यकताएँ हैं, किंतु अधिकतर विद्वत्ता प्रकट करने की आकांक्षा इसके मूल में रहती है। अधिकांश तत्सम शब्द आधुनिक काल में हिंदी में आए हैं। कुछ तत्सम शब्द ऐसे भी हैं जो ऐतिहासिक दृष्टि से तद्भव शब्दों के बराबर ही प्राचीन हैं, किंतु ध्वनियों की दृष्टि से सरल होने के कारण इनमें परिवर्तन करने की कभी आवश्यकता नही पड़ी। जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल म विकृत हुए हैं, वे 'अर्द्धतत्सम' कहलाते हैं, जैसे 'कान्हा' तद्भव रूप है क्योंकि संस्कृत 'कृष्ण' को लेकर यह आधुनिक समय में ही बिगाड़ कर बनाया गया है।

बँगला, मराठी, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं से आए हुए शब्द हिंदी में बहुत कम हैं, क्योंकि हिंदी-भाषी लोगों ने संपर्क में आने पर भी इन भाषाओं को बोलने का कभी उद्योग नहीं किया। इन अन्य भाषाओं के शब्दसमूह पर हिंदी की छाप अधिक गहरी है।

(ख) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए हुए शब्द

हिंदी के तत्सम और तद्भव शब्दसमूह में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो प्राचीन काल में अनार्य-भाषाओं में तत्कालीन आर्यभाषाओं में ले लिए गए थे। हिंदी के लिए वास्तव में ये आर्यभाषा के ही शब्द के समान हैं। प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दों को संस्कृत शब्दसमूह में नहीं पाते थे उन्हें 'देशी' अर्थात् अनार्य-भाषाओं से आये हुए शब्द मान लेते थे। इन वैयाकरणों ने बहुत से बिगड़े हुए तद्भव शब्दों को भी देशी समझ रक्खा था। तामिल, तेलगू आदि द्राविड़ या मुंडा, कोल आदि अन्य अनार्य-भाषाओं से आधुनिक काल में आए हुए शब्द हिंदी में बहुत कम हैं।

द्राविड़ भाषाओं से आए हुए शब्दों का प्रयोग हिंदी में प्रायः बुरे अर्थों में होता है। द्राविड़ 'पिल्लै' शब्द का अर्थ पुत्र होता है, वही शब्द हिंदी में 'पिल्ला' होकर कुत्ते के बच्चे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मूर्द्धन्य वर्ण से युक्त कुछ शब्द यदि सीधे द्राविड़ से नहीं आए हैं तो कम से कम उन पर द्राविड़ भाषाओं का प्रभाव तो बहुत ही पड़ा है। मूर्द्धन्य वर्ण द्राविड़ भाषाओं की विशेषता है। कोल भाषाओं का हिंदी पर प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं है। हिंदी में बीस-बीस करके गिनने की प्रणाली कदाचित् कोल भाषाओं से आई है। कोड़ी शब्द स्वयं कोल भाषाओं से आया मालूम पड़ता है। इस तरह के कुछ शब्द और भी हैं।[1]

(ग) विदेशी भाषाओं के शब्द

सैकड़ों वर्षों से विदेशी शासन में रहने के कारण हिंदी पर कुछ विदेशी भाषाओं

---

[1] बंगाली में प्रयुक्त टवर्ग से युक्त देशी शब्दों के लिए देखिए चै०, बे० लै०, २६८-२७२

का प्रभाव भारतीय भाषाओं की अपेक्षा भी अधिक पड़ा है। यह प्रभाव दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) मुसलमानी प्रभाव, (२) यूरोपीय प्रभाव। किंतु दोनों प्रकार के प्रभावों में सिद्धान्त के रूप से बहुत कुछ समानता है। मुसलमानों तथा अंग्रेज़ों दोनों के शासक होने के कारण एक ही ढंग का शब्द-समूह इनकी भाषाओं से हिंदी में आया है। विदेशी शब्दों को हम दो मुख्य श्रेणियों में रख सकते हैं—

(क) विदेशी संस्थाओं, जैसे कचहरी, फ़ौज, स्कूल, धर्म आदि से संबंध रखने वाले शब्द।

(ख) विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नाम, जैसे नए पहनावे, खाने, यंत्र तथा खेल आदि की वस्तुओं के नाम।

१—फारसी, अरबी, तुर्की, तथा पश्तो शब्द—१०००ई० के लगभग फ़ारसी बोलनेवाले तुर्कों ने पंजाब पर क़ब्ज़ा कर लिया था, अतः इनके प्रभाव से तत्कालीन हिंदी प्रभावित होने लगी थी। रासो तक में फ़ारसी शब्दों की संख्या कम नहीं है। १२०० ई० के बाद लगभग ६०० वर्ष तक हिंदी-भाषी जनता पर तुर्क, अफ़गान, तथा मुग़लों का शासन रहा, अतः इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द गाँव की बोली तक में घुस आए। तुलसी और सूर जैसे वैष्णव महाकवियों की विशुद्ध हिंदी भी विदेशी शब्दों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। हिंदी में प्रचलित विदेशी शब्दों में सबसे अधिक संख्या फ़ारसी की है, क्योंकि समस्त मुसलमान शासकों ने चाहे वे किसी भी नसल के क्यों न हों, फ़ारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा था। अरबी तथा तुर्की[1] आदि के जो शब्द हिंदी में मिलते हैं वे फ़ारसी से होकर ही हिंदी में आए हैं।

---

[1]हिंदुस्तान के ग़जनी, ग़ोर और ग़ुलाम आदि आरंभ के वंशों के मुसलमानी बादशाहों तथा भारतीय मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक बाबर की मातृभाषा मध्य एशिया की तुर्की भाषा थी। टर्की इसी तुर्की की एक शाखा मात्र है। इस्लाम

२—यूरोपीय भाषाओं के शब्द—लगभग १५०० ई० से यूरोप के लोगों का भारत में आना-जाना प्रारंभ हो गया था, किंतु करीब तीन सौ वर्ष तक हिंदी-भाषी इनके संपर्क में अधिक नहीं आए, क्योंकि यूरोपीय लोग समुद्र के रास्ते से भारत में आए थे, अतः इनका कार्य-क्षेत्र प्रारंभ में समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में ही विशेष रहा। इसी कारण प्राचीन हिंदी साहित्य में यूरोपीय भाषाओं के शब्द नहीं के बराबर हैं। १८०० ई० के लगभग हिंदी-भाषी प्रदेश मुगलों के हाथ से निकल कर अंग्रेज़ी शासन में चला गया। गत सौ-सवा सौ वर्ष में हिंदी शब्दसमूह पर अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।[1]

धर्म तथा ईरानी सभ्यता के प्रभाव के कारण इन तुर्की बोलनेवाले बादशाहों के समय में भी उत्तर-भारत में इस्लामी साहित्य की भाषा फ़ारसी और इस्लामी धर्म की भाषा अरबी रही, तो भी भारतीय फ़ारसी पर तथा उसके द्वारा आधुनिक आर्यभाषाओं पर तुर्की शब्द-समूह का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा। हिंदी में प्रचलित तुर्की शब्दों की एक सूची नीचे दी जा रही है:—

आक़ा (मालिक), उज़बक (मूर्ख), उर्दू, कलगी, कैंची, क़ाबू, कुली, कोर्मा, ख़ातून (स्त्री), ख़ां, ख़ानुम (स्त्री), गलीचा, चकमक (पत्थर), चाकू, चिक, तमग़ा, तगार, तुरुक, तोप, दरोग़ा, बख़्श, बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, बकचा, मुचलका, लाश, सौग़ात, सुराक़-ची (जैसे मशालची, खज़ांजी, इत्यादि)।

पठान और रोहिला (रोह=पहाड़, शब्द पश्तो के हैं।

[1]हिंदी के विदेशी शब्दसमूह में फ़ारसी के बाद अंग्रेजी शब्दों की संख्या सबसे अधिक है। अब भी नए अंग्रेजी शब्द आ रहे हैं। अतः इनकी पूर्ण सूची बन सकना अभी संभव नहीं है। तो भी अंग्रेजी विदेशी शब्दों की एक विस्तृत सूची नीचे दी जा रही है। इन शब्दों में से कुछ तो गाँवों तक में पहुंच गए हैं। इस सूची में बहुत शब्द ऐसे भी हैं, जो अंग्रेजी संस्थाओं या अंग्रेजी पढे-लिखे लोगों से संपर्क में आने के कारण केवल शहर के रहनेवाले बेपढ़े लोगों के मुँह से ही सुन पड़ते हैं। कुछ शब्द कई रूपों में व्यवहृत होते हैं, किंतु उनका अधिक प्रचलित रूप ही दिया गया है।

संपर्क में आने पर भी आवश्यक विदेशी शब्दों को अछूत-सा मान कर न अपनाना अस्वाभाविक है। यत्न करने पर भी यह कभी संभव नहीं हो सका है।

अंजन, अक्तूबर, अगिन (?) बोट, अटेलियन, अपरप्रैमरी, अपील, अप्रैल, अफ़सर, अमरीका, अर्दली, अलबम, अस्पताल, असंबली।

आइलैंड, आपरेशन, आर्डर, आफ़िस।

इंसपेक्टर, इंच, इंजीनियर, इंटर, इंट्रेंस, इटली, इनकमटैक्स, इस्टैचर, इस्प्रेस, इस्काउट, इस्काटलैंड, इस्कूल, इस्पिरिट, इस्पेन, इस्पेशल, इस्टूल, इस्टीमर, इस्क्रू, इस्प्रिंग, इस्टाम, इस्पीच, इस्पेलिंग, एजंट, एजेंसी, एरन, ए० फे०, ए० मे०, एडवर्ड, ऐक्ट, ऐक्टर, ऐक्टिंग, ऐलक्लाथ, ओवरकोट, ओवरसियर, औट।

कलट्टर, कमिश्नर, कमीशन, कंपनी, कलंडर, कंपोंडर, कफ़, कटपीस, कर्नैल, कलेटी, कैंटूनमिंट, कस्टरऐल, कंपू, कान्फ्रेंस, कापी, कालर, कौंजी (?) हौज, काग, कारड, कानिंस, कांग्रेस, कामा, कालिज, कानिस्टबल, क्वाटर, किलब, किरकिट, किलास, किलर्क, किलिप, कुल्तार, कुइला, कूपन, कुनैन, केक, केतली, कैंच, (-औट), कोट, कोरम, कोरट, कोको-जम, (कोको-पुर्तगाली), कोको, कोचवान, कौंसिल।

गजट, गर्डर, गाटर, गार्ड, गिरमिट, गिलास, गिलट, गिन्नी, गोपाल (वार्निश) गेट, गेटिस, गैस, गौन।

घासलेटी।

चाक, चाकलेट, चिमनी, चिक, चिट, चुरट (तामिल—शुरुट्ट,) चेर, चेरमैन, चैन।

जंटलमैन, जंट, जंपर, जमनास्टिक, जज, जर्मनी, जनैल, जनवरी, जर्नलमर्चंट, जाकट, जाज, जुलाई, जून, जेल, जेलर।

टन, टब, ट्रंक, ट्राली, ट्राइस्किल, ट्रांबे, टिकट, टिकस, टिमाटर, टिंपरेचर, टिफिन, टीम, टीन, टुइल, ट्यूब, टम, टेनिस, टेबिल, टेसन, टेलीफून, ट्रेन, टैर, टैमटेबिल, टोल, टौंनहाल।

ठेठर।

अनावश्यक विदेशी शब्दों का प्रयोग करना दूसरी अति है। मध्यम मार्ग यही है कि अपनी भाषा के ध्वनि-समूह के आधार पर विदेशी शब्दों के रूप में परिवर्तन करके

डबल, डबलमार्च, डंबल, डाक्टर, ड्रामा, डायरी, डिकशनरी, डिप्टी, डिस्ट्रिक-बोर्ड, डिगरी, डिरैवर, डिमारिज, डिकस, डिपलोमा, डिउटी, ड्रिल, डीपो, डेरी, डमनकाट, डौन।

तारकोल।

थर्ड, थर्मामेटर।

दर्जन, दलेल (ड्रिल), दराज, दिसम्बर।

नर्स, नकटाई, नववंर, नंबर, नाविल, निकर, निब, निकसंल, नोट, नोटिस, नोटबुक।

पसिंजर, पल्टन, परेड, पलस्तर, पतलून, पंचर, पंप, पाकट, पारक, पालिसे, पार्टी, पापा, पाट, पार्सल, पास, प्राइमरी, पिलाट, पिलीडर, पिंसन, पिंसिल, पियानो, पिलेट, पिलेट-फार्म, पिट्रोल, पिन, पिपरमेंट, पिलग, पुलिटस, पुरफेसर, पुलिस, पुर्तगाल, पुटीन, पेटीकोट, प्रेस, प्रेसीडेंट, पैसा, पैप, पैट, पैटमैन, पोलो, पोसकाट, पौंड, पौडर,।

फर्मा, फर्स्ट, फलालैन, फरवरी, फरलांग, फारम, फिरांस, फिनैल, फिटन, फिराक, फीस, फुटबाल, फुलबूट, फुट, फेल, फ्रेम, फैर, फैसन, फैसनेबिल, फोटो, फोटोगिराफी, फोनोग्राफ,।

बंक, बम, बटेलियन, बरांडी, बटन, बकस, बग्घी, बबूकाट, बनयाइन, बाडिस, बारिक, बालिस्टर, वास्कट, बिल्टी, बिलडिंग, बिगुल, बिरजिस, बिरीटस, बिराग, बिलूबिलैक, बिंच, बी० ए०, बुक्सेलर, बुलडाग, बुरुस, बूट, बैंड, बैरंग, बैस्कोप, बैरिकल, बैट, बैरा, बोट, बोर्ड, बोर्डिंग।

मसीन, मजिस्ट्रेट, मनीबेग, मनीआर्डर, मई, मन, मफलर, मलेरिया, मसीनगन मनेजर, मटन, माचिस, मास्टर, मारकीन, मिस, मिनीसुपिल्टी, मिनट, मिस्मरेजम, मिल, मिसनरी, मिक्सचर, मीटिंग, मेजर, मेंबर, मैट, मेम, मोटर,।

रंगरूट, रबड़, रसीद, रपट, रन, रजीमिंट, रासन, रिजिस्ट्री, रिजिस्टर,

उन्हें आवश्यकतानुसार सदा मिलाते रहना चाहिए। इस प्रकार शुद्धि करने के उपरांत लिए गए विदेशी शब्द जीवित भाषाओं के शब्द-भंडार को बढ़ाने में सहायक ही होते हैं।

कुछ पुर्तगाली,[1] डच तथा फ्रांसीसी[2] शब्द भी हिंदी ने ऐसे अपना लिए है

रिजिस्ट्रार, रिजल्ट, रिटाइर, रिवालवर, रिकार्ड, रिबिट, रीडर, रूल, रेजीडन्सी, रेस, रेल, रैकट, रैफिल, रोड।

लंकलाट, लंप, लफटंट, लमलेट, लंक्स, लवंडर, लंच, लाटरी, लाट, लाइब्रेरी, लालटेन, लान, लेट, लेटरबक्स, लेक्चर, लेबिल, लैंडो, लैन, लैनकिलियर, लैसंस, लैस, लैमनचूस, लैमुनेड, लोट (नोट), लोकल (गाड़ी), लोअरप्रैमरी।

वारनिश, वास्कट, वाइल, वारंटै, वायलिन, वालंटियर, वाइसराय, विक्टोरिया, वी० पी०, वेटिंगरूम, वोट, वैसलीन।

सम्मन, सर्जन, सरज, संटरजेल, संतरी, सरकस, सब(-जज)सरविस, सार्टीफिकेट, साइंस, सिगरट, सिलिंग, सिल्क, सिमिट, सितम्बर, सिकत्तर, सिगल, सिलीपर, सिलेट, सिट (बटन), सिविलसर्जन, सुइटर, सुपरडंट, सूट, सूटकेस, सेशन, सेफटीपिन, सेकिंड, सैंपुल, सोप, सोडावाटर,।

हरीकेन (लालटेन), हाईकोर्ट, हाईस्कूल, हारमुनियम, हाकी, हाल, हाथ साइड, हिट, हिस्टीरिया, ह्विस्की, हेब्रू, हुड, हुक, हुर्रे, हेडमास्टर, हैट, होलडर, होस्टल, होमोपैथी।

[1] हिंदी तें कुछ पुर्तगाली शब्द आ गए हैं, किंतु इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है, पुर्तगाली शब्दों का इतनी संख्या में भी हिंदी में पाया जाना आश्चर्यजनक है। हिंदी में प्रचलित पुर्तगाली शब्दों की सूची नीचे दी जा रही है :—

अनन्नास, अल्मारी, अचार, आलपीन, आया, इस्पात, इस्त्री, कमीज, कप्तान, कनिस्तर, कमरा, काज, काफ़ी, काजू, काकातुआ, क्रिस्तान, किरच, गमला, गारद, गिर्जा, गोभी, गोदाम, चाबी, तंबाकू, तौलिया, तौला, नीलाम, परात, परेक, पाउ (रोटी), पादरी, पिस्तौल, पीपा, फर्मा, फीता, फ्रांसीसी, बर्गा, बपतिस्मा, बालटी,

कि वे सहसा विदेशी नहीं मालूम होते।

बिसकुट, बुताम, बोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज, यशू, लबादा, संतरा, साया, साबू।

बंगाली भाषा में आने पर पुर्तगाली शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन-संबंधी विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, चै०, बे०, लै०, अ० ७।

पुर्तगाल के लोगों की अपेक्षा फ्रांसीसियों से हिंदुस्तानियों का कुछ अधिक संपर्क रहा था, किंतु फ्रांसीसी शब्द हिंदी में दो चार से अधिक नहीं है। यही अवस्था डच भाषा के शब्दों की है। इसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं:—

फ्रांसीसी:—कारतूस, कूपन, अंग्रेज।

डच:—तुरुप, बम (गाड़ी का)।

जर्मन आदि अन्य यूरोपियन भाषाओं के शब्द हिंदी में कदाचित् बिल्कुल नहीं हैं। कम से कम अभी तक पहिचाने नहीं जा सके हैं। 'अल्पका' शब्द यदि अंग्रेजी से नहीं आया है तो स्पैनिश हो सकता है।

६—हिंदी भाषा का विकास

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि १००० ई० के बाद मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के अंतिम रूप अपभ्रंश भाषाओं ने धीरे-धीरे बदल कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का रूप ग्रहण कर लिया और गंगा की घाटी में प्रयाग या काशी तक बोली जाने वाली शौरसेनी अर्द्धमागधी अपभ्रंशों ने हिंदी भाषा के समस्त प्रधान रूपों को जन्म दिया। गत एक सहस्र वर्ष में हिंदी भाषा किस तरह विकसित होती गई तथा उसके अध्ययन के लिए क्या सामग्री उपलब्ध है, इसी का यहाँ संक्षेप में वर्णन करना है।

हिंदी भाषा के विकास का इतिहास साधारणतया तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) प्राचीनकाल (१५०० ई० तक) जब अपभ्रंश तथा प्राकृतों का प्रभाव हिंदी भाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिंदी के बोलियों के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नहीं हो पाए थे।

(ख) मध्यकाल (१५००—१८०० ई०), जब हिंदी से अपभ्रंशों का प्रभाव बिलकुल हट गया था और हिंदी की बोलियां, विशेषतया खड़ी बोली ब्रज और अवधी, अपने पैरों पर स्वतंत्रतापूर्वक खड़ी हो गई थीं।

(ग) आधुनिक काल (१८०० ई० के बाद), जब से हिंदी की बोलियों के मध्य-काल के रूपों में परिवर्तन आरंभ हो गया है तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खड़ी बोली ने हिंदी की अन्य बोलियों को दबा दिया है।

इन तीनों कालों को क्रम से लेकर तत्कालीन परिस्थिति, भाषा-सामग्री तथा भाषा के रूप पर संक्षेप में नीचे विचार किया गया है।

क—प्राचीन काल (१५०० ई० तक)

हिंदी भाषा का इतिहास जिस समय प्रारंभ होता है उस समय हिंदी प्रदेश

तीन राज्यों में विभक्त था और इन्हीं तीन केन्द्रों से हम हिंदी भाषा संबंधी सामग्री पाने की आशा कर सकते हैं। पश्चिम में तोमरवंश की राजधानी दिल्ली थी। पृथ्वीराज के समय में अजमेर चौहान वंश का राज्य भी इसमें सम्मिलित हो गया था। दिल्ली राज्य की सीमाएँ पश्चिम में पंजाब के मुसलमानी राज्य से मिली हुई थीं। दक्षिण-पश्चिम में राजस्थान के राजपूत राज्यों से इसकी घनिष्टता थी, किन्तु पूरब की सीमा पर सदा घरेलू युद्ध होते रहते थे। नरपति नाल्ह तथा चंद कवि का संबंध क्रम से अजमेर और दिल्ली से था। चौहान राज्य के पूर्व में राठौर अथवा गहरवार वंश की राजधानी कन्नौज थी और इस राज्य की सीमाएँ अयोध्या तथा काशी तक चली गई थीं। कन्नौज के अंतिम सम्राट जयचंद का दरबार साहित्य-चर्चा का मुख्य केन्द्र था, किंतु यहाँ 'भाषा' की अपेक्षा संस्कृत तथा प्राकृत का कदाचित् विशेष आदर था। संस्कृत के अंतिम महाकाव्य 'नैषधीयचरित' के लेखक श्रीहर्ष जयचन्द के दरबार में ही राजकवि थे। कन्नौज के दरबार में भाषा-साहित्य की चर्चा भी रही होगी, किंतु प्राचीन कन्नौज नगर के पूर्णरूप से नष्ट हो जाने के कारण इस केन्द्र की सामग्री अब बिलकुल ही उपलब्ध नहीं है। इन दोनों राज्यों के दक्षिण में महोबा का प्रसिद्ध राज्य था। महोबा के राजकवि जगनायक या जगनिक का नाम तो आज तक प्रसिद्ध है, किंतु इस महाकवि की मूलकृति का अब पता नहीं चलता।

११९१ ई० तक मध्यदेश के ये तीनों अंतिम हिंदू राज्य मौजूद थे, किंतु इसके बाद दस-बारह वर्ष के अन्दर ही ये तीनों राज्य नष्ट हो गए। ११९१ में मुहम्मद गोरी ने पानीपत के निकट पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अगले वर्ष इटावा के निकट जयचंद की हार हुई। कन्नौज से लेकर काशी तक का प्रदेश विदेशियों के हाथों में चला गया। शीघ्र ही महोबा पर भी मुसलमानों ने कब्ज़ा कर लिया। इस तरह समस्त हिंदी प्रदेश पर विदेशी शासकों का आधिपत्य हो गया। विकसित होती हुई नवीन भाषा के लिए यह बड़ा भारी धक्का था,

जिसके प्रभाव से हिंदी अब तक भी मुक्त नहीं हो सकी है। हिंदी भाषा के इतिहास के संपूर्ण प्राचीन काल में मध्यदेश पर तथा उसके बाहर शेष उत्तर भारत पर भी तुर्की सुल्तानों का साम्राज्य क़ायम रहा (१२०६–१५२६ ई०)। इन सम्राटों की मातृभाषा तुर्की थी तथा दरबार की भाषा फ़ारसी थी। इन विदेशी शासकों की रुचि जनता की भाषा तथा संस्कृत के अध्ययन करने की ओर बिलकुल ही न थी, अतः तीन सौ वर्ष से अधिक इस साम्राज्य के क़ायम रहने पर भी दिल्ली के राजनीतिक केन्द्र से हिंदी भाषा की उन्नति में बिलकुल ही सहायता नहीं मिल सकी। इस काल में केवल अमीर खुसरो ने मनोरंजन के लिए भाषा से कुछ प्रेम दिखलाया था। इस काल के अंतिम दिनों में पूर्वी मध्यदेश में धार्मिक आंदोलन के कारण भाषा में कुछ काम हुआ, किंतु इसका संबंध तत्कालीन राज्य से बिलकुल ही न था। राज्य की ओर से सहायता की अपेक्षा कदाचित् बाधा ही विशेष मिली। इस प्रकार के आंदोलनों में गोरखनाथ, रामानंद तथा उनके प्रमुख शिष्य कबीर के संप्रदाय उल्लेखनीय हैं।

हिंदी भाषा के इस प्राचीन काल की सामग्री नीचे लिखे भागों में विभक्त की जा सकती है :—

१—शिलालेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्र आदि।

२—अपभ्रंश काव्य।

३—चारण-काव्य, जिसका आरंभ गंगा की घाटी में हुआ था, किंतु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बाद को जो प्रायः राजस्थान में लिखे गए तथा धार्मिक ग्रंथ व अन्य काव्य-ग्रंथ।

४—हिंदवी अथवा पुरानी खड़ी बोली में लिखा साहित्य।

विदेशी शासन होने के कारण इस काल में हिंदी भाषा में लिखे शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों आदि के अधिक संख्या में पाए जाने की संभावना बहुत कम है। इस संबंध में विशेष खोज भी नहीं की गई है, नहीं तो कुछ सामग्री अवश्य ही उप-

लब्ध होती।[1] हिंदी के सबसे प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारों से संबंध रखनेवाले पत्रों के रूप में समझे जाते थे, जिनको नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था, किंतु ये अप्रामाणिक सिद्ध हुए।

पीतांबरदत्त बर्थवाल[2] तथा श्री राहुल सांकृत्यायन[3] ने नाथपंथ तथा वज्रयानी सिद्ध साहित्य की ओर हिंदी पाठकों का ध्यान पहले पहल आकर्षित किया, तथा बहुत सी नवीन सामग्री भी ये विद्वान प्रकाश में लाए। इस सामग्री की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की अभी पूर्ण परीक्षा नहीं हो पाई है। इन कवियों का समय ७०० ई० से १३०० ई० के बीच में माना जाता है किंतु इनकी रचनाओं का वर्तमान रूप भी उसी समय का है, यह विचारणीय है। प्रारंभिक सिद्धों की कृतियों की भाषा स्पष्टतया अपभ्रंश (मागधी) है।

चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अंक ४ में 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिए हैं वे प्रायः गंगा की घाटी के बाहर के प्रदेशों में बने ग्रंथों के हैं, अतः इनमें हिंदी के प्राचीन रूपों का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकांश उदाहरणों की भाषा में अपभ्रंश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रंथों को इस काल के अपभ्रंश साहित्य[4] के अंतर्गत रखना अधिक उचित मालूम

---

[1] मध्यप्रांत के हिंदी शिलालेखों के संबंध में देखिए श्री हीरालाल का 'हिंदी के शिलालेख और ताम्रलेख' शीर्षक लेख (ना० प्र० प०, भा० ६, सं० ४)।

[2] बर्थवाल : हिंदी कविता में योग-प्रवाह, (ना० प्र० प० भाग ११, अं० ४, १९३०), गोरखबानी (१९४२)

[3] राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व-निबंधावली (१९३७); हिंदी काव्य-धारा (१९४५)

[4] इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथों में हेमचंद्र-रचित 'कुमारपालचरित' तथा 'सिद्ध हैमव्याकरण' सबसे प्राचीन हैं। हेमचंद्र की मृत्यु ११७२ ई० में हुई थी, अतः इन ग्रंथों का रचना-काल इसके पूर्व ठहरेगा। सोमप्रभाचार्य का कुमारपाल-

होता है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल न अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में ऐसा किया भी है। तो भी इन नमूनों से अपनी भाषा की पुरानी परिस्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

इस काल की भाषा के नमूनों का तीसरा समूह चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य-ग्रंथों में मिलता है[1]। भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन ग्रंथों की भाषा के नमूने

प्रतिबोध' ११८४ ई० में लिखा गया था। इसमें कुछ सोमप्रभाचार्य के स्वरचित उदाहरण तथा कुछ प्राचीन उदाहरण मिलते हैं। जैन आचार्य मेरुतुंग ने 'प्रबंध-चिंतामणि' नाम का संस्कृत ग्रंथ १३०४ ई० में बनाया था। इस काल में कुछ प्राचीन पद्य उद्धृत मिलते हैं, जो अपभ्रंश और हिंदी की बीच की अवस्था के द्योतक हैं। 'शार्ङ्गधर-पद्धति, 'शार्ङ्गधर कवि द्वारा संग्रहीत सुभाषित-ग्रंथ है जिसमें शाबर-मंत्र और चित्रकाव्य में कुछ भाषा के शब्द आए हैं। शार्ङ्गधर रणथंभोर के महाराज हम्मीरदेव (मृत्यु १३०० ई०) के मुख्य सभासद राघवदेव का पोता था, अतः यह चौदहवीं सदी ईसवी के मध्य में हुआ होगा।

[1] इस प्रकार के मुख्य-मुख्य लेखकों तथा उनके प्रकाशित ग्रंथों की सूची निम्नलिखित है :—

१—नरपति नाल्ह : 'बीसलदेव रासो' (११५५ ई०)—जिन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर यह ग्रंथ छापा गया है वे १६१२ और १९०२ ई० की लिखी हैं। मूलग्रंथ के अजमेर में लिखे जाने के कारण इसकी भाषा का राजस्थानी होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं कुछ खड़ी बोली के रूप भी पाए जाते हैं।

२—चंद : 'पृथ्वीराज रासो'—चंद का कविता-काल ११६८ से ११९२ ई० तक माना जाता है। वर्तमान 'पृथ्वीराज रासो' में कितना अंश चंद का रचा है, इस विषय में विद्वानों को बहुत संदेह है। वर्तमान रासो में ब्रजभाषा के साथ अपभ्रंश, खड़ी बोली तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

३—खुसरो : फुटकर काव्य—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग २ अंक ३ में 'खुसरो की हिंदी कविता' शीर्षक से ब्रजरत्नदास ने खुसरो की जीवनी तथा

अत्यंत संदिग्ध हैं। इनमें से किसी भी ग्रंथ की इस काल की लिखी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं है। बहुत दिनों मौखिक रूप में रहने के बाद लिखे जाने पर भाषा में परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक है, अतः हिंदी भाषा के इतिहास की दृष्टि से इन ग्रंथों के नमूने बहुत मान्य नहीं हो सकते। इस काल की भाषा के अध्ययन के लिए या तो पुराने लेखों से सहायता लेना उपयुक्त होगा या ऐसी हस्तलिखित प्रतियों से जो १५०० ई० से पहिले की लिखी हों।

हिंदी काव्य-संग्रह दिया है। खुसरो का समय १२५५—१३२५ ई० है। इनके सब प्रसिद्ध ग्रंथ फ़ारसी में हैं। इनकी हिंदी कविता के नमूने का आधार एकमात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेखबद्ध किए जाने के कारण खुसरो की हिंदी आधुनिक खड़ी बोली हो गई है। 'ख़ालिकबारी' नाम के अरबी-फ़ारसी हिंदी कोष में कुछ अंश हिंदी में हैं, किंतु यह ग्रंथ भी अपूर्ण है।

४—गोरखपंथ के संस्थापक गोरखनाथ के समय के संबंध में बहुत मतभेद है। इनका समय १० वीं शताब्दी ई० से १४ वीं शताब्दी ई० के बीच में मानी जाता है। इनके नाम से प्रसिद्ध कई ग्रंथ 'गोरखबानी' नाम के संग्रह में प्रकाशित हुए हैं। विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन के लिए देखिए हजारीप्रसाद द्विवेदी-कृत नाथ-संप्रदाय का इतिहास।

५—विद्यापति (जन्म १३६२ ई०) का भाषा-पदसमूह अभी कुछ ही समय पूर्व संग्रह किया गया है। इन पदों में मिथिला में संग्रहीत पदों की भाषा मैथिली है तथा बंगाल में संग्रहीत पदसमूह की भाषा बँगला है। इनके किसी भी वर्तमान सग्रह की भाषा पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ की नहीं मानी जा सकती। विद्यापति के 'कीर्तिलता' नाम के ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश है। इनके अन्य ग्रंथ प्रायः संस्कृत में हैं।

६—कबीरदास (१४२३ ई०) तथा उनके गुरुभाई संतों की भाषा के संबंध में भी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। साधारणतया संतों की वाणी कुछ समय तक मौखिक रूप में चलती रही, अतः उनकी भाषा में नवीनता का प्रवेश

दक्षिण भारत में विकसित हिंदवी अथवा दकनी उर्दू साहित्य का प्रारंभ १३२६ ई० में मोहम्मद तुग़लक़ के दक्षिण आक्रमण के बाद हुआ। हिंदवी के प्रारंभिक कवि मुसलमान सूफ़ी फ़क़ीर थे, जिन्होंने अपने धार्मिक विचारों के प्रचार की दृष्टि से ये रचनाएँ लिखी थीं। यह साहित्य अभी देवनागरी लिपि में प्रकाशित नहीं हुआ है यद्यपि इसकी भाषा पुरानी खड़ी बोली है। इन लेखकों में सबसे प्रसिद्ध ख़्वाजा बंदानवाज (१३२१—१४५२ ई०) थे। हिंदवी में प्रारंभिक साहित्यिक रचनाएँ बीजापुर तथा गोलकुंडा के शासकों के द्वारा तथा उनकी संरक्षिता में १७वीं शताब्दी में लिखी गईं।

ख—मध्यकाल (१५००—१८००)

१५०० ई० के बाद देश की परिस्थिति में एक बार फिर भारी परिवर्तन हुए। १५२६ ई० के लगभग शासन की बागडोर तुर्की सम्राटों के हाथ से निकल कर मुग़ल शासकों के हाथ में चली गई। बीच में कुछ दिनों तक सूरवंश के राजाओं ने भी राज्य किया। इस परिवर्तनकाल में राजपूत राजाओं ने गंगा की घाटी पर अधिकार जमाना चाहा, किंतु वे इसमें सफल न हो सके। मुग़ल तथा सूरवंश के सम्राटों की सहानुभूति जनता की सभ्यता को समझने की ओर तुर्कों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। देश में शांति रहने तथा राज्य की ओर से कम उपेक्षा होने के कारण इस काल में साहित्य-चर्चा भी विशेष हुई। वास्तव में यह काल हिंदी साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है।

अवधी और ब्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपों का विकास सोलहवीं सदी में ही प्रारंभ हुआ। इन दोनों में ब्रजभाषा तो समस्त हिंदी प्रदेश की साहि-

---

होता रहना स्वाभाविक है। सभा की ओर से कबीर के ग्रंथों का जो संग्रह छपा है उसकी प्रतिलिपि यद्यपि १५०४ ई० की लिखी हस्तलिखित प्रति के आधार पर तैयार की गई है, किंतु उसमें पंजाबीपन इतना अधिक है कि उसके काशी में रहने-वाले कबीरदास की मूल वाणी होने में बहुत संदेह मालूम होता है।

त्यिक भाषा हो गई, किंतु अवधी में लिखे गए 'रामचरित मानस' का हिंदी जनता में सबसे अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नहीं हो सका। मध्यकाल में अवधी में लिखे गए ग्रंथों में दो मुख्य हैं—जायसी-कृत 'पद्मावत' (१५४० ई०) जो शेरशाह सूर के शासन-काल में लिखा गया था और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' (१५७५ ई०) जो अकबर के शासनकाल में लिखा गया था। इन दोनों ग्रंथों की बहुत-सी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं।

वल्लभाचार्य के प्रोत्साहन से सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना प्रारंभ हुई। हिंदी साहित्य की इस शाखा का केन्द्र पश्चिम मध्यप्रदेश में था, अतः ब्रजभाषा साहित्य को धर्म के साथ-साथ विदेशी तथा देशी राज्यों की की संरक्षता भी मिल सकी। सूरदास के ग्रंथ कदाचित् १५५० ई० तक रचे जा जा चुके थे। तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' तथा 'गीतावली' आदि कुछ काव्यों में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अष्टछाप समुदाय के दूसरे महाकवि नंददास के ग्रंथ भी साहित्यिक ब्रजभाषा में हैं। सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में प्रायः समस्त हिंदी साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया है। ब्रजभाषा को रूप दिन-दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा सुसंस्कृत होता चला गया है। बिहारी और सूरदास की ब्रजभाषा में बहुत भेद है। बुंदेलखंड तथा राजस्थान के देशी राज्यों से संपर्क में आने के कारण इस काल के बहुत से कवियों की भाषा में जहाँ-तहाँ बुंदेली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिए केशवदास (१६०० ई०) की ब्रजभाषा में बुंदेली प्रयोग बहुत मिलते हैं।

प्राचीन तथा मध्यकाल के ग्रंथों में जहां-तहां खड़ी बोली के रूप भी बिखरे पड़े हैं। रासो, कबीर, भूषण आदि में बराबर खड़ी बोली के प्रयोग वर्तमान हैं। इससे तो यह स्पष्ट ही है कि खड़ी बोली का अस्तित्व प्रारंभ से ही था, यद्यपि इस बोली का प्रयोग हिंदू कवि और लेखक साहित्य में विशेष नहीं करते थे। यह मुसलमानी बोली समझी जाती थी, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। दक्षिण

में हिंदी अथवा पुरानी खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग चौदहवीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया था, किंतु उत्तर-भारत में मुसलमान शासकों की संरक्षिता में इसका साहित्य में प्रयोग अठारहवीं सदी के प्रारंभ से विशेष हुआ। इससे पहले मुसलमान कवि भी यदि भाषा में कविता करते थे तो अवधी या ब्रजभाषा का व्यवहार करते थे। जायसी, रहीम आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। खड़ी बोली उर्दू के प्रथम प्रसिद्ध कवि हैदराबाद दक्खिन के वली माने जाते हैं। इनका कविता-काल अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पड़ता है। अठारहवीं और उन्नीसवी सदी में बहुत से मुसलमान कवियों ने काव्य-रचना करके खड़ी बोली उर्दू को परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया। इन कवियों में मीर, सौदा, इंशा, ग़ालिब, ज़ौक़ और दाग़ उल्लेखनीय हैं।

ग—आधुनिक काल (१८०० ई० के बाद)

अठारहवीं सदी के अंत से ही परिवर्तन के लक्षण प्रारंभ हो गए थे। मुग़ल साम्राज्य के निर्बल हो जाने के कारण अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में तीन बाहर की शक्तियों में हिंदी प्रदेश पर अधिकार करने की प्रतिद्वंद्विता हुई— ये थे मराठा, अफ़गान, और अंग्रेज़। १७६१ ई० में मध्यदेश की पश्चिमी सरहद पर पानीपत के तीसरे-युद्ध में अफ़गानों के हाथ से मराठों को ऐसा भारी धक्का पहुँचा कि वे फिर शक्तिसंचय नहीं कर सके। किंतु अफ़गानों ने भी इस विजय से लाभ नहीं उठाया। तीन वर्ष बाद १७६४ ई० में हिंदी प्रदेश की पूर्वी सीमा पर बक्सर के निकट अंग्रेज़ों तथा अवध और दिल्ली के मुसलमान शासकों के बीच युद्ध हुआ जिसके फल-स्वरूप अंग्रेज़ों के लिए गंगा की घाटी का पश्चिमी भाग खुल गया। १८०२ ई० के लगभग आगरा उपप्रांत अंग्रेज़ों के हाथ में चला गया तथा १८५६ ई० में अवध पर भी अंग्रेज़ों का पूर्ण अधिकार हो गया।

इन राजनीतिक परिवर्तनों के कारण उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही मध्यदेश की भाषा हिंदी पर भारी प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अठारहवीं सदी में ब्रज-

भाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, साथ ही मुसलमानों के बीच खड़ी बोली उर्दू ज़ोर पकड़ चुकी थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में अंग्रेजों ने भी हिंदुओं के लिए खड़ी बोली गद्य के संबंध में कुछ प्रयोग करवाए जिनके फलस्वरूप फ़ोर्टविलियम कालेज में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इन प्रारंभिक खड़ी बोली के ग्रंथों पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। 'प्रेमसागर' में तो ब्रजभाषा के प्रयोग बहुत अधिक पाए जाते हैं। खड़ी बोली हिंदी का गद्य-साहित्य में प्रचार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चंद्र तथा धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। मुद्रणकला के साथ-साथ खड़ी बोली हिंदी का प्रचार बहुत तेजी से बढ़ा। उन्नीसवीं सदी तक पद्य में प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा, किंतु बीसवीं सदी में आते-आते खड़ी बोली हिंदी संपूर्ण मध्यदेश की एकमात्र साहित्यिक भाषा हो गई है। ब्रजभाषा में कविता करने की शैली अभी तक पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुई है, किंतु इसके दिन इने-गिने हैं। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुपयुक्त न होगा कि बीसवीं सदी की साहित्यिक ब्रजभाषा का आधार मध्यकाल के उत्तरार्द्ध की साहित्यिक ब्रजभाषा है, न कि आजकल की ब्रज-प्रदेश की वास्तविक बोली। खड़ी बोली पद्य के प्रारंभ के कवियों की भाषा में भी लल्लूलाल आदि प्रथम गद्य-लेखकों के समान ब्रजभाषा की झलक पर्याप्त है। श्रीधर पाठक की खड़ी बोली के कविता की मिठास का कारण बहुत कुछ ब्रजभाषा के रूपों का व्यवहार है, यह परिवर्तन-काल शीघ्र ही दूर हो गया और अब तो खड़ी बोली कविता की भाषा से भी ब्रजभाषा की छाप बिल्कुल हट गई है। गत डेढ़-दो सौ वर्षों से साहित्यिक खड़ी बोली—आधुनिक हिंदी और उर्दू—मेरठ-बिजनौर की जनता की खड़ी बोली से स्वतंत्र होकर अपने-अपने ढंग से विकास को प्राप्त कर रही है। स्वाभाविक बोली के प्रभाव से पृथक हो जाने के कारण इसके व्याकरण का ढाँचा तथा शब्दसमूह निराला होता जाता है, तो भी अभी तक आधुनिक हिंदी-उर्दू के व्याकरण का स्वरूप मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली

से बहुत अधिक भिन्न नहीं हो पाया है। भेद की अपेक्षा साम्य की मात्रा विशेष है।

साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिंदी के व्यापक प्रभाव के रहते हुए भी हिंदी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने-अपने प्रदेशों में आज भी पूर्ण-रूप से जीवितावस्था में हैं। मध्यदेश के गाँवों की समस्त जनता अब भी खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रज, अवधी, बुंदेली, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों के आधुनिक रूपों का व्यवहार कर रही है। गाँव के अपढ़ लोग बोलचाल की आधुनिक साहित्यिक हिंदी को समझ बराबर लेते हैं, किंतु ठीक-ठीक बोल नहीं पाते। गाँव की बोलियों में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। जायसी की अवधी में पर्याप्त भेद हो गया है। इसी तरह सूरदास की ब्रजभाषा से आजकल की ब्रज की बोली कुछ भिन्न हो गई है। इन परिवर्तनों को प्रारंभ होते हुए सौ-सवा सौ वर्ष अवश्य बीत चुके हैं, इसी लिए लगभग १८०० ई० से हिंदी भाषा के इतिहास के तीसरे काल का प्रारंभ माना जा सकता है। यद्यपि अभी भेदों की मात्रा अधिक नहीं हो पाई है, किंतु संभावना यही है कि ये भेद बढ़ते ही जावेंगे और सौ दो सौ वर्ष के अन्दर ही ऐसी परिस्थिति आ सकती है जब तुलसी, सूर आदि की भाषा को स्वाभाविक ढंग से समझ लेना अवध और ब्रज के लोगों के लिए कठिन हो जावेगा। इस प्रगति का प्रारंभ हो गया है।

७—देवनागरी लिपि और अंक

यद्यपि हिंदी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुड़िया, मैथिली, आदि अनेक लिपियों का थोड़ा बहुत व्यवहार है, किंतु देवनागरी लिपि का स्थान इनमें सर्वोपरि है। लिखने के अतिरिक्त छपाई में तो प्रायः एक मात्र इसी का व्यवहार होता है। यदि देवनागरी लिपि की प्रतिद्वंद्विता किसी से है तो उर्दू लिपि से है। भारतवर्ष के अधिकांश पढ़े-लिखे मुसलमानों तथा पंजाब और आगरा-दिल्ली की तरफ हिंदुओं में उर्दू लिपि का व्यवहार पाया जाता है, किंतु देवनागरी लिपि का प्रचार समस्त हिंदी प्रदेश में तथा उसके बाहर महाराष्ट्र में है। ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी का मूल संबंध भारत की प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से है। ब्राह्मी और देवनागरी का संबंध समझाने के लिए भारतीय लिपियों के संबंध में विशेषज्ञों[1] ने जो खोज की है उसका सार नीचे दिया जाता है।

प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य के वाह्य-रूप उसमें पाए जाने वाले उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि भारत में लेखन-कला का प्रचार चौथी शताब्दी पूर्व ईसा से बहुत पहले मौजूद था। ऐसी अवस्था में कुछ यूरोपीय विद्वानों का यह मत बहुत सारयुक्त नहीं मालूम होता कि भारतीय लोगों ने चौथी, आठवीं या दसवीं शताब्दी पूर्व ईसा किन्हीं विदेशियों से लिखने की कला सीखी। जो हो, भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता तथा उसका उद्गम हमारे प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध नहीं रखता अतः इसका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

प्राचीन काल में भारत में ब्राह्मी (पाली बंभी) और खरोष्ठी नाम की दो

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, प्रथम संस्करण १९१८; बूलहर, 'आन दि ओरिजिन आव दी इंडियन ब्राह्म अलफ़ाबेट', प्रथम संस्करण, १८९५, द्वितीय संस्करण, १८९८।

लिपियाँ प्रचलित थीं। इनमें से ब्राह्मी एक प्रकार से राष्ट्रीय लिपि थी, क्योंकि इसका प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़ कर शेष समस्त भारत में था। देवनागरी आदि आधुनिक भारतीय लिपियों की तरह यह भी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी[1] लिपि का प्रचार था और यह आधुनिक उर्दू लिपि की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। यह निश्चित है कि खरोष्ठी लिपि आर्य लिपि नहीं है, बल्कि इसका संबंध विदेशी सेमिटिक अरमइक् लिपि से है। खरोष्ठी लिपि के संबंध में ओझा लिखते हैं कि "जैसे मुसलमानों के राज्य-समय में ईरान की फ़ारसी लिपि का हिंदुस्तान में प्रवेश हुआ और उसमें कुछ अक्षर और मिलाने से हिंदी भाषा के मामूली पढ़े-लिखे लोगों के लिए काम चलाऊ उर्दू लिपि बनी वैसे ही जब ईरानियों का अधिकार पंजाब के कुछ अंश पर हुआ तब उनकी राजकीय लिपि अरमइक् का वहाँ प्रवेश हुआ, परंतु उसमें केवल ३२ अक्षर, जो आर्य-भाषाओं के केवल १८ उच्चारणों को व्यक्त कर सकते थे, होने तथा स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद और स्वरों की मात्राओं के न होने के कारण यहाँ के विद्वानों में से खरोष्ठ या किसी और ने अक्षरों तथा ह्रस्व-स्वर मात्राओं की योजना कर मामूली पढ़े हुए लोगों के लिए, जिनको शुद्धाशुद्ध की विशेष आवश्यकता नहीं रहती थी, कामचलाऊ लिपि बना दी।"[2] इस लिपि का प्रचार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के आसपास तीसरी शताब्दी पूर्व-ईसा से तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा।

तीसरी शताब्दी के बाद इस प्रदेश में भी ब्राह्मी के विकसित रूप व्यवहृत होने लगे। उर्दू लिपि का विकास खरोष्ठी से नहीं हुआ है। उर्दू और खरोष्ठी का मूल तो एक ही है, किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू लिपि मुसलमानों के भारत में आने पर उनकी फ़ारसी अरबी फ़ारसी लिपि के आधार पर कुछ अक्षरों को जोड़ कर बनाई गई थी।

---

[1] खरोष्ठी का शब्दार्थ 'गधे के होठवाला' है।

[2] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० १७

मध्य तथा आधुनिक कालों की समस्त भारतीय लिपियों का उद्गम प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से हुआ है, इस संबंध में कोई भी मतभेद नहीं है, किंतु स्वयं ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में दो मुख्य मत हैं, बूहलर तथा वेबर आदि विद्वानों का समूह ब्राह्मी का संबंध पश्चिमी एशिया की किसी न किसी विदेशी लिपि से जोड़ता है। इन विद्वानों में इस विषय के विशेषज्ञ बूहलर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमिटिक लिपियों के लिए किए गये हैं और बाकी अक्षर उन्हीं के आधार पर बनाए गए हैं। कनिंघम तथा ओझा आदि विद्वानों का दूसरा समूह ब्राह्मी की उत्पत्ति विदेशी लिपियों से नहीं मानता। ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में ओझा का कहना है कि "यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वांग-सुंदरता से चाहे इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका फ़िनीशिअन से कुछ भी संबंध नहीं है।"[1] ब्राह्मी लिपि का उद्गम चाहे जो हो किंतु इतना निश्चित है कि मौर्यकाल में इसका प्रचार समस्त भारत में था। ब्राह्मी लिपि में लिखे गए सब से प्राचीन लेख पाँचवीं शताब्दी पूर्व-ईसा काल तक के पाए गए हैं; अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों तथा अन्य प्राचीन लेखों की लिपि ब्राह्मी ही है।

ब्राह्मी लिपि का प्रचार भारत में लगभग ३०० ईसवी तक रहा। इस समय तक उत्तर और दक्षिण की ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त अंतर हो गया था। तामिल, तेलगू, ग्रंथ आदि दक्षिण भारत की समस्त आधुनिक तथा मध्यकालीन लिपियों का संबंध ब्राह्मी की दक्षिण शैली से है। चौथी शताब्दी के लगभग उत्तर की प्रचलित शैली का कल्पित नाम गुप्तलिपि रक्खा गया है। गुप्त साम्राज्य के प्रभाव के कारण इसका प्रचार चौथी और पाँचवीं शताब्दी में समस्त उत्तर-भारत में था। इसके

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, २८

उदाहरण गुप्तकालीन शिलालेख तथा ताम्रपत्रादि में मिलते हैं। "गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियां नागरी से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगीं। सिरों के चिह्न जो पहले बहुत छोटे थे, बढ़ कर कुछ लंबे बनने लगे और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नए रूपों में परिणत हो गए।"[1]

गुप्तलिपि के विकसित रूप का कल्पित नाम 'कुटिल लिपि' रक्खा गया है। इसका प्रचार छठी से नवीं शताब्दी ई० तक उत्तर-भारत में रहा। 'कुटिलाक्षर' नाम का प्रयोग प्राचीन है। अक्षरों तथा स्वरों की कुटिल आकृतियों के कारण ही यह लिपि कुटिल कहलाई जाने लगी। इस काल के शिलालेख तथा दानपत्र आदि इसी लिपि में लिखे पाए जाते हैं। कुटिल लिपि से ही नागरी तथा काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा विकसित हुई। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, टाकरी तथा गुरुमुखी लिपियाँ निकलीं हैं। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवीं शताब्दी ईसवी के लगभग प्राचीन बँगला लिपि निकली, जिसके आधुनिक परिवर्त्तित रूप बँगला, मैथिली, उड़िया तथा नैपाली लिपियों के रूप में प्रचलित हैं। प्राचीन नागरी से ही गुजराती, कैथी तथा महाजनी आदि उत्तर-भारत की अन्य लिपियाँ भी संबद्ध हैं।

नागरी[2] लिपि का प्रयोग उत्तर-भारत में दसवीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है। किंतु दक्षिण-भारत में कुछ लेख आठवीं शताब्दी तक के पाए जाते हैं। दक्षिण की नागरी लिपि 'नंदि नागरी' नाम से प्रसिद्ध है और अब तक दक्षिण में संस्कृत पुस्तकों के लिखने में उसका प्रचार है। राज्यस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यभारत, विंध्यप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में इस काल के लिखे प्रायः समस्त शिलालेख ताम्रपत्र आदि में नागरी लिपि ही पाई जाती है। "ई० स० की १०वीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की नाईं अ, आ, घ, प, म, य, ष, और स के सिर दो अंशों में विभक्त मिलते हैं, परंतु ११वीं शताब्दी से ये दोनों अंश

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ६०

[2] 'नागरी, शब्द की उत्पत्ति के संबंध में बहुत मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इसका

मिलकर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लंबा रहता है जितनी की अक्षर की चौड़ाई होती है। ११वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और १२वीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है।.....ई० सं० की १२वीं शताब्दी से लगातार अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आती है।"[1] इस तरह आधुनिक देवनागरी लिपि दसवीं शताब्दी ईसवी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

जिस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि ब्राह्मी लिपि का परिवर्तित रूप है उसी प्रकार वर्तमान नागरी अंक प्राचीन ब्राह्मी अंकों के परिवर्तन से बने हैं। "लिपियों की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अंकों में भी अंतर है। यह अंतर केवल उनकी आकृति में ही नहीं, किंतु अंकों की लिखने की रीति में भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से ९ तक अंक और शून्य इन १० चिह्नों से अंकविद्या का संपूर्ण व्यवहार चलता है वैसे ही प्राचीन काल में नहीं था। उस समय शून्य का व्यवहार ही न था और दहाइयों, सैकड़ा, हजार आदि के लिए भी अलग चिह्न थे।"[2] अंकों के संबंध में इन दो शैलियों को 'प्राचीन शैली' और 'नवीन शैली' कहते हैं।

भारतवर्ष में अंकों की यह प्राचीन शैली कब से प्रचलित हुई इसका ठीक पता नहीं चलता। अशोक के लेखों में पहले-पहल कुछ अंकों के चिह्न मिलते हैं। प्राचीन शैली के अंकों की उत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं।

संबंध 'नागर' ब्राह्मणों से लगाते हैं अर्थात् नागर ब्राह्मणों में प्रचलित लिपि नागरी कहलाई, कुछ 'नगर' शब्द से संबंध जोड़कर इसका अर्थ नागरी अर्थात् नगरों में प्रचलित लिपि लगाते हैं। एक मत यह भी है कि तांत्रिक यंत्रों में कुछ चिह्न बनते थे जो 'देवनगर', कहलाते थे। इन अक्षरों से मिलते-जुलते होने के कारण यही नाम इस लिपि के साथ संबद्ध हो गया। तांत्रिक समय में 'नागर लिपि' नाम प्रचलित था (ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला पृ० १८)। इस लिपि के लिए देवनागरी या नागरी नाम पड़ने के कारण वास्तव में अनिश्चित हैं।

[1] ओझा, भा० प्रा०, लि०, पृ० ६९-७० [2] वही, पृ० १०३

इस संबंध में ओझा ने बूहलर का नीचे लिखा मत उद्धृत किया है जो ध्यान देने योग्य है—"प्रक्षेप का यह पुराना कथन है कि अंक उनके सूचक शब्दों के प्रथम अक्षर हैं, छोड़ देना चाहिए। परंतु अब तक इस प्रश्न का संतोषदायक समाधान नहीं हुआ। पंडित भगवानलाल ने आर्यभट्ट और मंत्रशास्त्र की अक्षरों द्वारा अंक सूचित करने की रीति को भी जांचा परंतु उसमें सफलता न हुई अर्थात् अक्षरों के क्रम की कोई कुंजी न मिली और न मैं इस रहस्य की कोई कुंजी प्राप्त करने का दावा करता हूँ। मैं केवल यही बतलाऊंगा कि कोई इन अंकों में अनुनासिक, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का होना प्रकट करता है कि उन (अंकों) को ब्राह्मणों ने निर्माण किया था, न कि वाणिआओं (महाजनों) ने और न बौद्धों ने जो प्राकृत को काम में लाते थे।"[1] कुछ विद्वानों के इस मत का कि भारतीय मूल अंक विदेशी अंकों से प्रभावित हैं, ओझा आदि विद्वानों की समूह नहीं मानता। ओझा के अनुसार "प्राचीन शैली के भारतीय अंक भारतीय आर्यों के स्वतंत्र निर्माण किए हुए हैं।"[2]

नवीन शैली के अंक-क्रम का प्रचार पांचवी शताब्दी के लगभग से सर्वसाधारण में था, यद्यपि शिलालेख आदि में प्राचीन शैली का ही प्रायः उपयोग किया जाता था। नवीन शैली की उत्पत्ति के संबंध में ओझा का मत है कि "शून्य की योजना कर नव अंकों से गणित-शास्त्र को सरल करने वाले नवीन शैली के अंकों का प्रचार पहले-पहल किस विद्वान ने किया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अंकों की सृष्टि भारतवर्ष में हुई, फिर यहाँ से अरबों ने यह क्रम सीखा और अरबों से उसका प्रवेश यूरोप में हुआ।"[3]

भाषा और लिपि दो भिन्न वस्तुएँ होते हुए भी व्यवहार में ये अभिन्न रहती हैं। इसी कारण संक्षेप में हिंदी भाषा देवनागरी लिपि और हिंदी अंकों के विकास का दिग्दर्शन यहाँ कर देना उचित समझा गया। लिपि तथा अंक के चिह्न के इतिहास के संबंध में विस्तृत सामग्री ओझा लिखित 'प्राचीन लिपिमाला' में संकलित है।

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ११० [2] वही, पृ० ११४ [3] वही, पृ० ११७

लेखक की अन्य पुस्तकें

१—LA LANGUE BRAJ

Published by Adrien-Maisonneuve

5, rue de Tournon, Paris (6), 1935,

Price 35 Francs

यह फ़्रांसीसी में ब्रजभाषा पर थीसिस है जिस पर पेरिस यूनिवर्सिटी ने लेखक को 'डी० लिट्०' की उपाधि दी थी।

२—ब्रजभाषा व्याकरण

प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९३७, मूल्य १)

३—अष्टछाप

ब्रजभाषा गद्य में लिखी हुई चौरासी तथा दो सौ बावन वार्ताओं से अष्टछाप कवियों के जीवन चरित्रों का संकलन।

प्रकाशक, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९३८, मूल्य १)

४—हिंदी भाषा और लिपि

प्रकाशक, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, दसवाँ संस्करण, १९५३, मूल्य १)

५—ग्रामीण हिंदी

प्रकाशक, साहित्यभवन लिमिटेड, प्रयाग, मूल्य ।।।)

६—हिंदी राष्ट्र

प्रकाशक, लीडर प्रेस, प्रयाग, मूल्य ।।।)

७—विचारधारा

प्रकाशक, साहित्यभवन लिमिटेड, प्रयाग, निबंध-संग्रह, द्वितीय संस्करण १९४४, मूल्य ३।।)

८—यूरोप के पत्र

प्रकाशक, साहित्यभवन लिमिटेड, प्रयाग, मूल्य ४)

संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
X
पुस्तक क्रम संख्या 33
State Museum Library, Lucknow